# भाषा-साहित्य और संस्कृति

•

डा० रामविलास शर्मा

किताबमहल प्रकाशन

हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक तथा साम्य-वादी चिंतक डा० राम विलास शर्मा के कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट संग्रह । शर्मा जी ने अपने इन निबन्धों में भाषा, साहित्य तथा संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न मूलभूत प्रश्नों का अत्यन्त विद्वतापूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है । भाषा का प्रभाव, शैलो की विदग्धता, तर्क पद्धति की अकाट्यता शर्मा जी की अपनी विशेषताएँ हैं । पुस्तक अध्येताओं के लिए हो नहीं प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक द्वारा अनिवार्य रूप से संग्रह करने योग्य है ।

४·०० रु०

# भाषा-साहित्य और संस्कृति

●
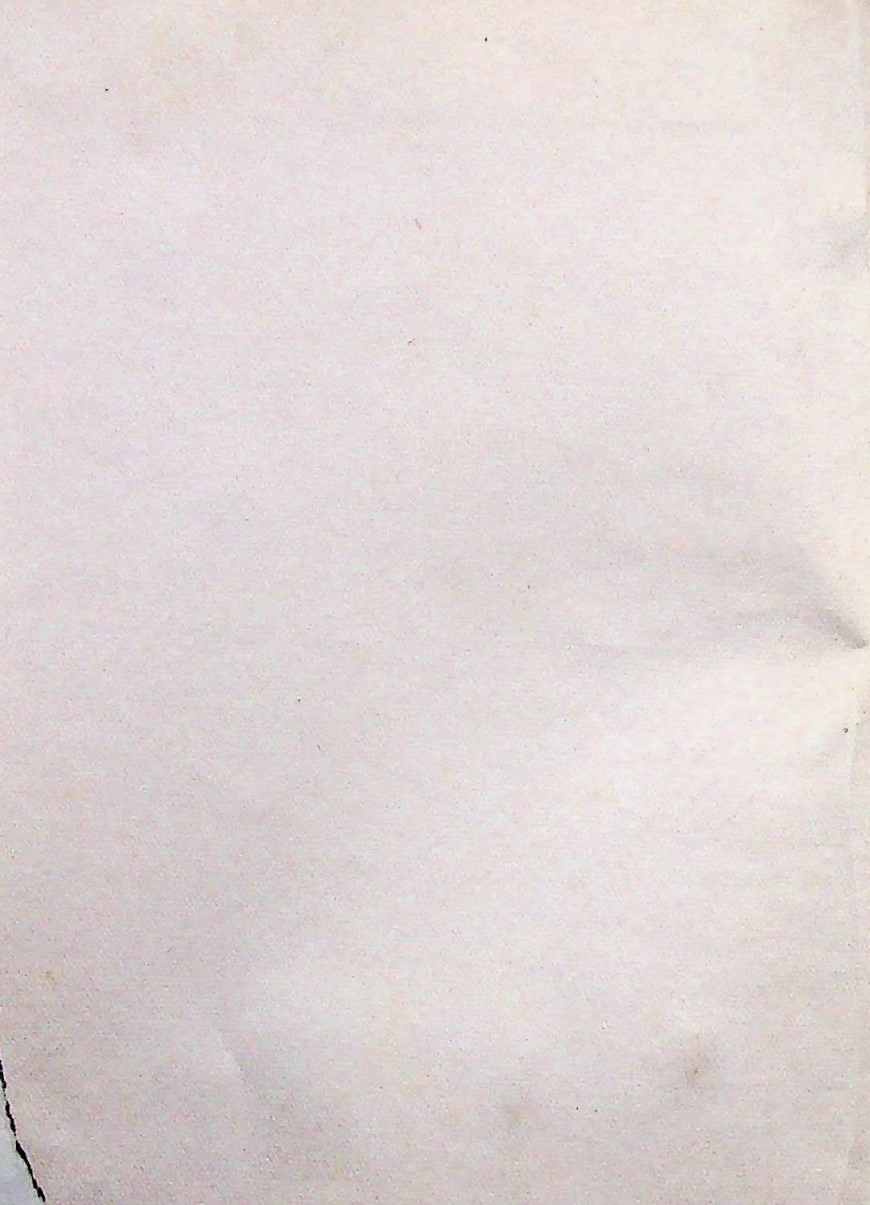
डॉ० रामविलास शर्मा

किताब महल (होलसेल डिवीज़न) प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

१९६४

# सूची

# जनतंत्र और हिन्दी

इक्कीस दिसम्बर १९४७ के 'जनयुग' में साम्प्रदायिकता और सम्मेलन के सम्बन्ध में मेरा एक लेख छपा था जिसका उत्तर अट्ठाईस दिसम्बर के 'जनयुग' में भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी ने दिया है। उसके बारे में दो-चार शब्द और कहना जरूरी है।

अपने लेख में सम्मेलन के उन महारथियों का उल्लेख मैंने किया था जो हिन्दी के प्रश्न को एक साम्प्रदायिक रूप दे रहे हैं। भदन्तजी कहते हैं कि 'ये कुछ छोटे-मोटे उदाहरण हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में भी दिखायी देने पर' मैं शेर आया, शेर आया कहकर खतरे की घण्टी बजाने लग गया हूँ। क्या ही अच्छी बात हो कि ये उदाहरण 'कुछ' ही हों और साथ में 'छोटे-मोटे' भी। बम्बई के अधिवेशन से उनकी संख्या घटने के बजाय और बढ़ गयी है!

साम्प्रदायिकता और पूँजीवादी आक्रमण से आगाह करना सभी हिन्दी-साहित्यिकों को 'खोंच' मारना नहीं हो सकता। खोंच यदि लग सकती है तो सम्प्रदायवाद के प्रेमियों को ही!

यह बात नहीं है कि भदन्तजी पूँजीवाद या साम्प्रदायिकता के खतरे को जानते न हों। इस मामले में वह औरों से चार कदम आगे हैं। वह आज की थोड़ी-बहुत राजनीति ही नहीं, 'सारी राजनीति' को 'सम्प्रदायवाद से संचालित' मानते हैं। लेकिन इसका साहित्य या सम्मेलन के क्षेत्र में कोई खतरा उन्हें नहीं दिखायी देता।

निस्सन्देह, पूँजीवाद-विरोधी और साम्प्रदायिकता को नष्ट करनेवाली भावनाओं की वृद्धि हुई है। लेकिन इसीलिए जनतन्त्र की विरोधी शक्तियाँ त्रस्त होकर अपने आखिरी हमले की तैयारी भी कर रही हैं। इस हमले की तरफ से बेखबर होना जनतंत्र की सेवा करना नहीं, उसके साथ विश्वासघात करना है।

भाषा के क्षेत्र में इन पतनोन्मुख शक्तियों का नारा 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दु-

स्तान' का है। इस तरह की संकीर्णता से हिन्दी का विकास और प्रसार नहीं हो सकता; उसका घोर अनिष्ट जरूर हो सकता है।

सम्मेलन के मंच से बार-बार यह समझाया जा रहा है कि हिन्दी की रक्षा का प्रश्न अब हिन्दुत्व की रक्षा का प्रश्न है। ऐसी साम्प्रदायिकता के बारे में किसी भी देश-भक्त और जनवादी के दो मत नहीं हो सकते। यदि उसका विष कहीं भी फैल रहा है, तो उसकी तरफ साफ-साफ संकेत करना चाहिये और उसे निकाल बाहर करना चाहिये।

मनुष्य को मारने के लिए उसके वजन भर जहर की जरूरत नहीं होती; थोड़ा-सा ही उसके प्राणों के लिए काफी होता है। भदन्तजी मानते हैं—'देश के जीवन में जब साम्प्रदायिकता का विष व्याप गया है, तो सम्मेलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है।' क्या इतना जहर सम्मेलन के स्वास्थ्य को खत्म करने के लिए काफी नहीं है? यह बेफिक्री, यह आत्मसन्तोष, साम्प्रदायिकता का सबसे खतरनाक समर्थन है।

भाषा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता तरह-तरह के रूप धर कर आती है। उसका सच्चा रूप यह है कि धर्म के आधार पर देश का बँटवारा होने से इसी आधार पर भाषा का बँटवारा भी हो जाना चाहिये। इसलिए यह माँग की जाती है कि हिन्दी से चुन-चुनकर प्रचलित 'उर्दू' शब्द निकाले जायँ।

अभी हाल में नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने श्री रविशंकर शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी वालो, सावधान!' प्रकाशित की है। उसमें पचीसों ऐसे शब्दों की सूचना दी गयी है जो रोज के व्यवहार में आते हैं, लेकिन जिनसे हिन्दी को शुद्ध करने का तकाजा किया गया है। श्री रविशंकर प्रचलित भाषा को कोई कसौटी नहीं मानते। उनकी कसौटी हिन्दुत्व है। मानना होगा कि नागरी प्रचारिणी सभा एक जिम्मेदार संस्था रही है और जब वह ऐसी पुस्तक प्रकाशित करती है तो उसे हम अपवाद समझकर टाल नहीं सकते।

संस्कृत को जनता की भाषा का रूप छोड़े हुए सैकड़ों वर्ष बीत गये, लेकिन कुछ अक्ल के दुश्मन अब भी उसे राष्ट्रभाषा बनाने का सपना देख रहे हैं। अगर कुछ अनोखापन न हुआ तो फिर भारतीयता किस बात में? दुनिया की

तमाम भाषाओं का विकास क्लासिकल भाषाओं का सहारा लेते हुए भी जन-साधारण की भाषा के ही रूप में हुआ है। लेकिन यहाँ के भारतीयता-प्रेमी सहारा लेने के बदले एक प्राचीन भाषा को ही राष्ट्रभाषा का रूप देने की कोशिश में लगे हैं।

कुछ दूसरे लोग जो इस कार्य को असम्भव समझते हैं, यह नहीं कहते कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाया जाय, वे इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि संस्कृत राष्ट्रभाषा अब नहीं रही, इसलिए चाहिए यह कि आज की भाषा को जहाँ तक हो सके, हम संस्कृत के निकट ले जायँ। पंडित अमरनाथ झा, हैदराबाद में भारत के एजेन्ट-जेनरल श्री मुंशी आदि का यही तर्क है। यह धारणा हिन्दी और भारत की दूसरी भाषाओं में सहज विकास की उपेक्षा करती है। भाषा को लोक-प्रिय रूप देने के बदले ऐसे लोग उसे संस्कृत-गर्भित बनाकर कुछ थोड़े से पंडितों तक उसे सीमित कर देना चाहते हैं।

हिन्दी के लिए खतरा यही है कि वह प्राचीनता के अंधप्रेम में अपने स्वाभाविक बोलचाल के आधार से अलग की जा रही है। बारबार यह घोषित करने के बदले कि संस्कृत-गर्भित होने से भाषा ज्यादा समझी जाती है, हमें उसके सहज हिन्दी रूप की रक्षा करनी चाहिए।

जनसाधारण की भाषा की तरफ भदन्तजी का रवैया उलझन में डालने-वाला है। वह उर्दू को चाहे एक बार राष्ट्रभाषा मान लें, लेकिन इस प्रचलित भाषा को वह अपने पास भी फटकने देना नहीं चाहते! कहते हैं—'मैं सापेक्ष दृष्टि से उर्दू के राष्ट्रभाषा बन सकने में विश्वास कर सकता हूँ, किन्तु उस राष्ट्र-भाषा में मेरी तनिक श्रद्धा नहीं—और मैं समझता हूँ कि डॉ० रामविलास जैसे विचारकों की भी नहीं होनी चाहिए—जो 'यू० पी० के जनसाधारण की प्रचलित भाषा है।'

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग पहले इस बिना पर होती थी कि वह जनसाधारण की भाषा है और हिन्दुस्तान के ज्यादा से ज्यादा लोग उसे समझते हैं। लेकिन अब कुछ हिन्दी-पंडितों का संस्कृत-प्रेम उन्हें इसके लिए मजबूर कर रहा है कि वे प्रचलित भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देखें।

भले ही बोल-चाल की भाषा में भदन्तजी की श्रद्धा न हो, मेरी तो है और मैं समझता हूँ कि यह जनसाधारण की भाषा ही विकसित होकर निकट भविष्य में उन तमाम गुत्थियों को सुलझा देगी जिन्हें हिन्दी-उर्दू के प्रकांड विद्वान् बीस साल से उलझाते ही आये हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ़ से उर्दू के लिए बड़ी उदारतापूर्वक कहा जाता है कि वह अलग भाषा नहीं है, बल्कि हिन्दी की शैली है। लेकिन व्यवहार में उसके साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है जैसा शैली क्या सात समुन्दर पार की विदेशी भाषा के साथ भी नहीं किया जाता। उर्दू की तरह क्या हिन्दी भी जनता की प्रचलित भाषा की एक साहित्यिक शैली नहीं है? अगर उर्दू जनसाधारण की भाषा से अलग जा पड़ती है तो अन्याय है, लेकिन अगर हिन्दी भी उससे उतनी ही दूर है, तो यह उसका गुण है!

अपने लेख के अन्त में भदन्तजी ने कुछ शब्द चुनकर यह सिद्ध किया है कि 'इन और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करनेवाले डॉ० रामविलास इन और ऐसे ही शब्दों का विरोध करते हैं।'

'नहीं, मैं विरोध नहीं करता। मैंने कहीं यह दावा नहीं किया कि हिन्दी से संस्कृत शब्दों को निकाल बाहर करना चाहिए। लेकिन संस्कृत शब्दों को जरूरत के हिसाब से लेना एक बात है और यह कहना कि संस्कृत के शब्द ज्यादा लेने से भाषा ज्यादा समझी जाती है, बिल्कुल दूसरी बात है।

भदन्तजी ने दूसरा सवाल यह किया है कि यू० पी० के जनसाधारण की भाषा वह कौन-सी है 'जो उनकी सम्मति में राष्ट्रभाषा होनी चाहिये।' निवेदन है कि प्रचलित भाषा आज की परिस्थिति में केवल आधार हो सकती है, राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। उस आधार को राष्ट्रभाषा मान बैठना निस्सन्देह भूल है, लेकिन यह फिर कहने की जरूरत है कि उस आधार को बार-बार भुलाया जा रहा है और भाषा को उसके नजदीक ले जाने के बदले सम्मेलन के कर्णधार उसे संस्कृत के अधिक से अधिक निकट ले जाने के लिए उत्सुक हैं।

उर्दू की शैली को भदन्तजी विदेशी कहते हैं। यदि जनता के अपने प्रयोग कोई कसौटी हैं, तो मानना होगा कि संस्कृत और फ़ारसी की छूत-पाक प्रचलित

भाषा में नहीं चलती। जनता शब्दों को हिन्दू-मुसलमान समझ कर नहीं अपनाती; जो उसकी अपनी जातीयता के निकट होते हैं, उन्हीं को वह अपनाती है और अक्सर उन्हें अपने रँग में रँग लेती है। संस्कृत-फ़ारसी का देशी-विदेशीपन पंडितों के समाज में कायम है, लेकिन साधारण जनता ने अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार दोनों से शब्द लेकर यह झगड़ा खत्म कर दिया है। अगर प्रचलित भाषा में दोनों के शब्द आते हैं, तो साहित्य की भाषा में ही उनके मेल-जोल को कब तक रोका जा सकेगा ?

भदन्तजी तो मानते हैं कि हिन्दी-उर्दू दो भाषाएँ नहीं हैं; उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है जो अपने विदेशीपन की वजह से हिन्दी से अलग जा पड़ी है। लेकिन इस बार साहित्य-सम्मेलन के सभापति राहुलजी ने दोनों को एक नहीं बल्कि अलग-अलग भाषायें मानकर कहा है—'अपनी मातृ-भाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा से ज्यादा लादना व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है ?' यह बात उन्होंने इस सवाल का जवाब देते हुए कही है कि 'हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं' को राष्ट्र-भाषा क्यों न मानना चाहिये। असलियत यह है कि हम अब उर्दू से कोई आदान-प्रदान नहीं करना चाहते, इसलिए कभी तो दूसरी शैली कहकर उसके विदेशीपन की बात करते हैं, कभी दूसरी भाषा कहकर उसका विरोध करते हैं।

राहुलजी हिन्दी के किस रूप को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं ? इस बारे में परिडत अमरनाथ झा और श्री कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी के तर्क से राहुलजी का तर्क भिन्न नहीं है। वह भी चाहते हैं कि हिन्दी संस्कृत-गर्भित बने क्योंकि तभी वह सारे भारत में समझी जायगी। उन्होंने अपनी यात्रा और व्याख्यानों का उल्लेख करते हुए कहा है कि गुजराती, मराठी, उड़िया, बँगला आदि भाषाओं के बोलने वाले उनकी हिन्दी अच्छी तरह से समझ लेते थे, शर्त यह थी कि हिन्दी में 'जब-तब आनेवाले अरबी, फ़ारसी शब्दों की जगह तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाय।' इसका एक ही मतलब हो सकता है कि अगर हिन्दी को भारत के दूर-दूर भागों में सुबोध बनाना है, तो उसमें से 'जब-तब आनेवाले' अरबी-फ़ारसी के शब्दों को निकाल देना चाहिए और इनकी जगह 'तत्सम

संस्कृत शब्दों' का प्रयोग करना चाहिए।

अभी तक हिन्दी और उर्दू के समर्थक अपनी-अपनी प्रिय भाषा को हिन्दू और मुसलमान दोनों की देन बताते थे। यह सही भी था। मध्यकालीन हिन्दी ही नहीं, आधुनिक हिन्दी के निर्माण में भी मुसलमानों का हाथ रहा है। यह दो तरह से। जिस बोलचाल की भाषा को कवि और लेखक साहित्य में सँवारते हैं, उस बुनियादी भाषा को हिन्दू-मुस्लिम जनता ने मिल-जुलकर बनाया है। हमारी संस्कृति की तरह भाषा भी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर नहीं बनी बल्कि सभी सम्प्रदायों और धर्मों के लोगों ने मिलकर उसे बनाया है। इसके अलावा साहित्य के क्षेत्र में भी, क्या हिन्दी में और क्या उर्दू में, हिन्दू और मुस्लिम साहित्यकारों का मेल-जोल बना रहा है। राहुलजी ने अपने भाषण में हिन्दी और उर्दू के भेद को हिन्दू धर्म और इस्लाम का भेद बना दिया है। इसीलिए उन्होंने 'इस्लाम को भारतीय बनना चाहिये'—यह माँग पेश की है। इस्लाम को भारतीय बनाने की माँग पेश करना भाषा के क्षेत्र में धर्म के महत्व को स्वीकार करना है। आगे चलकर राहुलजी यह भी कहते हैं कि 'धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेड़ना आज के संसार में बरदाश्त नहीं किया जा सकता।' अगर यह बात सही है तो फिर भाषा की समस्या हल करने के लिए स्वयं राहुलजी ने यह धर्म का प्रश्न क्यों उठाया?

धर्म और अंधविश्वास की भावनाओं का राष्ट्रीयकरण किसी हालत में भी समस्या का हल नहीं हो सकता। जनतन्त्र के आन्दोलन के बढ़ने से ही आम जनता यह समझने लगती है—और उसे यह समझाया जाना चाहिये—कि धर्म और अन्धविश्वासों के सहारे किस तरह जमींदार और पूँजीपति उसका शोषण करते हैं और उसे भुलावे में रखते हैं। जनतन्त्र का आन्दोलन चलाने के लिए यह जरूरी है कि हम भाषा के प्रश्न पर एक मत हों। अगर एक ही कारखाने में काम करने वाले हिन्दू-मुसलमान मजदूर, एक ही गाँव में खेती करने वाले हिन्दू-मुसलमान किसान भाषा के झगड़े से अलग-अलग होते हैं, तो इसका बहुत बड़ा असर जनतन्त्र के आन्दोलन पर भी पड़ता है। यह डर कोरी हवाई कल्पना नहीं है। हिन्दू धर्म को शुद्ध भारतीय कहने वाले और इस्लाम को भारत

ही नहीं विश्वव्यापी बताने वाले कुछ मनचले सज्जन हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने धर्म की ध्वजा बनाकर हिन्दू-मुसलमान मजदूर किसानों में भी फूट डालने की कोशिश कर रहे हैं। जो भाषा सम्बन्धी भेद अभी उच्च और मध्य वर्गों तक सीमित था, वह धीरे-धीरे जनसाधारण में प्रवेश करता जा रहा है। यदि यही क्रम रहा तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का मिलना तो दूर, इन दोनों राज्यों में अलग-अलग भी जनतन्त्र के पनपने की संभावना कम होती जायगी।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की एकता के बारे में राहुलजी कहते हैं, 'मेरी समझ में तो अभी बटे हुए हिन्दुस्तान की एकता की बात चलानी फिजूल ही नहीं, हानिकारक है।' यही बात ख्वाजा नजीमुद्दीन ने भी पूर्वी बङ्गाल में एकता का आन्दोलन चलने पर कही थी।

राहुलजी के मुँह से इस तरह की पराजयवादी बातें यह सूचित करती हैं कि जनतन्त्र के आन्दोलन से उनकी आस्था उठ रही है। वह कहते हैं, 'हमारी पीढ़ी जो कर सकती थी, कर चुकी। एकता करने का काम अगली पीढ़ी का है, हमें इस एकता की बात करके उनके काम में कठिनाइयाँ पैदा नहीं करनी चाहिये।'

इसका यही मतलब हुआ कि एकता और जनतन्त्र का आन्दोलन कल चले तो ठीक, आज चले तो गलत। देश की पूँजीवादी नेताशाही भी किसान-मजदूरों से यही कहती है—'कल हिन्दुस्तान में जनतन्त्र भी होगा, समाजवाद भी होगा, लेकिन आज पूँजीपतियों के मुनाफे में हाथ मत लगाओ।'

अगर कल यही काम करना है तो उसकी शुरुआत आज क्यों न की जाय?

साम्राज्यवाद के शासनकाल में जनतन्त्र का आन्दोलन बहुत धीमी गति से आगे बढ़ा। गोरी शासन-व्यवस्था ने आम जनता को संस्कृति और साहित्य से दूर रखा। भारत की भाषाओं के विकास को रोकने में उसने कुछ उठा नहीं रखा। अँगरेजों के आने के पहले भारत की जनता अलग-अलग भाषा-क्षेत्रों में अपनी नयी संस्कृति लेकर उठने लगी थी। सामन्तकालीन राज्य ध्वस्त हो रहे थे और उनकी जगह बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि-आदि नये भाषाक्षेत्र उभर रहे थे। यदि अँगरेजी साम्राज्यवाद दखल न देता तो भारत की जातियाँ (नेशनैलिटी) संसार के अन्य महाद्वीपों की तरह यहाँ भी अपनी भाषा और साहित्य

का विकास करतीं। अँगरेजों ने सामंतवाद को सुरक्षित रखा और हर जाति को देशी और विलायती शासन-व्यवस्था में बाँट दिया। आंध्र-जाति निजाम की रियासत और मद्रास प्रान्त में बँट गयी। महाराष्ट्र के लोग कुछ बम्बई, कुछ बाकी रियासतों में बाँट दिये गये। सामंतवाद कहने को देशी था लेकिन वह भाषा और संस्कृति के लिए कम घातक नहीं था। राजस्थान की गौरवमय भूमि छोटी-बड़ी रियासतों में बाँटकर रखी गयी। अँगरेजों की कठपुतली इन देशी राजाओं ने राणाप्रताप का नाम ले-लेकर अपनी गद्दी सुरक्षित रखी। भाषा और संस्कृति को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि राजस्थान में आज भी अपनी भाषा की समस्या बनी हुई है। राजस्थानी बँगला-मराठी के समान उन्नत भाषा नहीं बन पायी। यही देशी नरेश हिन्दी, उर्दू संस्कृत के रक्षक बनकर आज हमारे सामने आते हैं। निजाम हैदराबाद उर्दू के हिमायती हैं तो महाराज भरतपुर राष्ट्रभाषा हिन्दी के और महाराज अलवर सीधे संस्कृत के! अँगरेजों के ये पिट्ठू जनता का शोषण बराबर जारी रखे हुए हैं और भाषा और संस्कृति के मैदान में आ-कर उसी शोषित जनता को आपस में लड़ाने की साजिशें करते हैं। भाषा के क्षेत्र में यह साम्राज्यवाद की विरासत है।

हिन्दुतान का सबसे बड़ा भाषा-क्षेत्र खड़ी बोली का है। जब हिन्दी-उर्दू का आधुनिक रूप विकसित न हुआ था तब मुसलिम जनता की मिली-जुली बोली यही खड़ी बोली थी। प्राचीन गौरव की याद में कुछ लोगों ने यह उचित समझा कि प्रचलित शब्द छोड़कर प्राचीन शब्दावली अपनायी जाय। इस तरह हिन्दी-उर्दू की शैली आवश्यकता से अधिक दूभर हुई। आवश्यकता से अधिक इसलिए कि संस्कृत या फारसी से शब्द लेना आवश्यक था। लेकिन प्रचलित शब्दों को छोड़कर उनकी जगह प्राचीनता के मोह में तत्सम शब्द भरना आवश्यक नहीं था।

हिन्दी-उर्दू लेखकों ने समालोचना, वैज्ञानिक साहित्य, दर्शन आदि के लिए फारसी और संस्कृत के शब्द लिये हैं, यह उचित किया है। लेकिन इन शब्दों का चुनाव भाषा की प्रकृति, जनता की रुचि और सुबोधता का ख्याल करके हमेशा नहीं हुआ। साम्राज्यवाद ने जनता को संस्कृति और शिक्षा से जिस तरह दूर रखा है, उससे जनता को यह मौका नहीं मिला कि वह प्रचलित भाषा की

नीति साहित्य की भाषा पर लागू कर सके। हिन्दी और उर्दू की साहित्यिक शैली में जो बहुत बड़ा अन्तर आज दिखायी देता है, वह कुछ दिन बाद जरूर खत्म होगा। लेकिन इस तरह नहीं जैसे भदन्तजी सोचते हैं कि उर्दू अपने 'अतिरिक्त विदेशीपन' को छोड़कर हिन्दी का वर्तमान रूप धारण कर लेगी या जैसे कुछ उर्दू प्रेमी समझते हैं कि हिन्दी अपना वर्तमान रूप छोड़कर उर्दू का रूप धारण कर लेगी। जब हमारा साहित्य जनता तक पहुँचेगा तब इन दोनों शैलियों के बहुत-से शब्द लिये जायँगे, बहुत-से छोड़ दिये जायँगे। आज तो फारसी और संस्कृत को हिन्दू धर्म और इस्लाम से जोड़ दिया गया है। इसलिए हम इनमें से एक ही सहारा लेकर भाषा को समृद्ध करना चाहते हैं! साहित्य का वह अंग जो आम जनता की सम्पत्ति बन गया है, इस छूत-पाक को स्वीकार नहीं करता। उस मिली-जुली निधि में जनपदीय बोलियों के गीत, किसान-मजदूरों में किये जानेवाले नाटक आदि शामिल हैं। इसके अलावा देवनागरी और फारसी दोनों ही लिपियों में ऐसी सैकड़ों कहानियाँ और गीत लिखे गये हैं जो हिन्दू-मुसलिम जनता की मिली-जुली सम्पत्ति है। यह नियम शिक्षा के प्रसार के साथ उस साहित्य पर भी लागू होगा जो अभी जनसाधारण तक नहीं पहुँच पाया। भाषा की समस्या का आखिरी फैसला तभी होगा।

# राष्ट्र भाषा हिंदी और हिन्दू राष्ट्रवाद

हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने की माँग कुछ नयी नहीं है। भारतेन्दु से लेकर अब तक इस माँग का आधार यही रहा है कि हिन्दी जनता की भाषा है; बोलने, लिखने और समझने में वह सरल है; हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता अभी भी उसे बोलती और समझती है। अपनी माँग को पुष्ट करने के लिये हिन्दी-भाषियों ने जनता को अपनी कसौटी बनाया था। उन्होंने राष्ट्रभाषा की समस्या को जनतांत्रिक ढंग से ही सुलझाने का प्रयत्न किया था। लेकिन इधर कुछ वर्षों से यह परिस्थिति बदल रही है। साहित्य-सम्मेलन के मंच से हिन्दी-हिन्दुस्तान का नारा लगाकर अपनी भाषा के प्रसार को संकुचित करने और उसके सहज विकास को रोकने का प्रयास किया गया है। एक तरफ तो हम गर्व के साथ कहते रहे हैं कि हिन्दी आम जनता की भाषा है जिसके बोलने वाले सभी जातियों और धर्मों के लोग हैं। दूसरी तरफ राष्ट्रीयता के नाम पर साम्प्रदायिकता का जहर फैलाने वाला यह नया हिन्दू राष्ट्रवादी दल भाषा को धर्म के साथ जोड़ कर हिन्दी को जनता की भाषा के पद से हटा देना चाहता है। ऊपर से देखने में मालूम होता है कि ये हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दी के समर्थक हैं, जो उसका प्रसार और विकास चाहते हैं; वास्तव में इनसे बड़ा शत्रु हिन्दी का कोई दूसरा नहीं हो सकता। राष्ट्रों की तरह भाषा का विकास भी जनतांत्रिक आधार पर होता है; जनता की उपेक्षा करके फासिज्म को आधार बनाने पर राष्ट्र की तरह भाषा का भी सत्यानाश होना अनिवार्य है। हिन्दी का सत्यानाश करना तो विधाता के लिए भी कठिन होगा। विधाता की इच्छाओं के एक मात्र टीकाकार ये हिन्दू-राष्ट्रवादी उसके विकास में कुछ देर के लिए बाधा जरूर डाल सकते हैं।

राष्ट्रभाषा के साथ हिन्दू राष्ट्रवाद के गठबन्धन की सबसे ताजी मिसाल श्री रविशङ्कर शुक्ल की लिखी हुई एक पुस्तक है जिसका नाम है—'हिन्दी वालो, सावधान !' 'इस्लाम खतरे में है' की तरह लेखक ने हिन्दू-धर्म खतरे में है,

कहकर हिन्दी वालों को सावधान करने की चेष्टा की है। जहाँ-जहाँ 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाया गया है, वहाँ-वहाँ साबित हो चुका है कि इस्लाम के बदले किसी की जमीन-जायदाद ही खतरे में थी जिसे बचाने के लिए यह खतरे की घण्टी बजाई गई थी। इस बहाने जायदाद की हिफाजत हो नहीं पाती और जनता इस ठगविद्या की पहचान कर जायदाद को जब्त करके ही दम लेती है। लेखक ने इतिहास की साक्षी न मान कर खुले आम धर्मान्धता को आदर्श मानकर उसके पीछे चलने की सिफारिश की है। प्रत्येक हिन्दू राष्ट्रवादी ऊपर से जिन्ना का विरोधी होते हुए भी हृदय से उन्हीं को अपना आदर्श मानता है। कांग्रेस और देश के स्वाधीनता संग्राम के बारे में वह लीग के प्रतिक्रिया-वादी नेताओं के समान ही झूठा प्रचार करता है। रविशङ्कर शुक्ल का अभि-योग है कि कांग्रेस ने हिन्दुओं के साथ 'घोर विश्वासघात किया है।' ( हिन्दी वालो, सावधान; परिशिष्ट, पृ० ६७ )। हिन्दुओं का विश्वासपात्र तो कोई हिंदू जिन्ना ही हो सकता था लेकिन लेखक के दुर्भाग्य से 'हिन्दुओं का ऐसा कोई नेता नहीं है जो मि० जिन्ना से टक्कर ले सके।' ( उप० ) हिन्दुओं में ऐसा नेता पैदा करने के लिये जरूरी है कि हर हिन्दू के हृदय से राष्ट्रीयता की परंपरा को निर्मल कर दिया जाय। इसलिए कांग्रेसी नेताओं के लिए लेखक ने यह दावा किया है कि उन्होंने 'जन्म भर मनसा, वाचा और कर्मणा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, और अब भी कर रहे हैं, कि वे हिन्दू नहीं हैं।' ( उप० ) कांग्रेस पर अहिन्दू होने के अभियोग लगाने का एक मात्र उद्देश्य यह है कि कांग्रेस की प्रेरणा से जो जनवादी परम्परा कायम हुई है, उससे निहित स्वार्थों की रक्षा की जाय। इस हिन्दू प्रेम के पीछे पूँजीवाद और जमींदारी प्रथा का प्रेम छिपा हुआ है जो लेखक से इस तरह की दलीलें पेश कराता है—पं० नेहरू को हिन्दुस्तान के नाम से चिढ़ है क्योंकि उसमें हिन्दू नाम जुड़ा हुआ है। इसलिए वह चाहते हैं कि देश को 'इंडिया' ही कहा जाय और इस मामले में गांधीजी भी 'उनकी पीठ थपथपा रहे हैं।' ( परिशिष्ट पृ० ६८ )। पं० नेहरू के भाषणों को जनता भी सुनती है और वह अच्छी तरह जानती है कि वे इंडिया शब्द का प्रयोग करते हैं या हिन्दुस्तान का। लेकिन फासिज्म का आधार झूठ

होता है और हिन्दू राष्ट्रवाद एक फासिस्ट विचारधारा है।

हिन्दू और मुस्लिम प्रतिक्रियावादी एक-दूसरे के कितने निकट हैं, इसकी एक मिसाल देखिये। दोनों ही नेहरू सरकार की एक हिन्दू संप्रदायवादी सरकार के रूप में कल्पना करते हैं। फर्क इतना ही है कि मुस्लिम प्रतिक्रियावादी उसे हिन्दू सरकार पहले से ही मानते हैं और उनके हिन्दू भाई उसे ऐसी बनाना चाहते हैं। शुक्लजी कहते हैं कि 'हमारा संसार नेहरू सरकार को हिन्दू सरकार बताता और समझता है—जब कि वास्तव में अर्थात असल में वह हिन्दू सरकार नहीं है। ऐसी भ्रांति का कारण नहीं रहने या भविष्य में उत्पन्न होने दिया जा सकता।' ( उप० ) सारे संसार में चर्चिल और उनके पिट्ठू ही ऐसा प्रचार करते हैं और बी० बी० सी० दुनिया भर में विज्ञापित करती है कि पं० नेहरू की हिन्दू सरकार मुसलमानों का नाश कर देना चाहती है। लेकिन संसार में सब चर्चिल, फीरोजखाँ नून या उनके हिन्दू नक्काल ( रविशङ्कर शुक्ल जैसे ) ही नहीं हैं। दुनिया का हर जनतंत्रवादी न तो नेहरू सरकार को एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सरकार मानता है और न उसे होने देना चाहता है।

हिन्दू राष्ट्रवाद की खुली घोषणा इस प्रकार है।

'हिन्दुस्तान एक हिन्दू राष्ट्र हो जिसका राजधर्म हिन्दूधर्म हो और जिसमें सब प्रमुख पदों पर हिन्दुओं और अमुस्लिमों की नियुक्ति हो! ऐसा कोई व्यक्ति जो स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म न मानता हो, हिन्दुस्तान-सरकार का प्रधान नहीं हो सकता।' (उप०) स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म मानने का मतलब क्या है? यह कि जो मुसलमानों को हिन्दुस्तान में रहने दे, वह पूरा हिन्दू नहीं है। 'इस्लाम धर्म के किसी अनुयायी को हिन्दुस्तान में नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते' और 'अल्पसंख्यक के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कालम को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता।' (पृ० ६६) यह है सच्चे हिन्दूपन की कसौटी! अगर लीगी नीति धर्मान्ध है तो क्या हम नहीं हो सकते? अगर वह एक बार कुएँ में गिरे हैं तो हम सौ बार गिरेंगे! हिन्दू राष्ट्रवाद की वीरता इसी प्रकार की है।

इस हिन्दू राष्ट्रवाद को भाषा के क्षेत्र में लागू करना मुश्किल नहीं है।

जैसे हिन्दुस्तान का हर मुसलमान पाकिस्तान का फ़िफ्थ कालम है, वैसे ही हिन्दी में आया हुआ अरबी-फ़ारसी का हर शब्द फिफ्थ कालम है, जिसे निकाल बाहर करना चाहिये। बात कुछ बहुत मौलिक नहीं है क्योंकि मराठी में वीर सावरकर भी यह काम कर चुके हैं। उन्हें सफलता कितनी मिली है, वह मराठी का कोई अखबार उठाकर देख लीजिये।

कठिनाई तब पैदा होती है जब जनता के व्यवहार का प्रश्न सामने आ जाता है। हिन्दू राष्ट्रवादियों के दुर्भाग्य से इस देश की जनता हिन्दू-मुसलमान शब्दों की पहचान नहीं कर पाती। फल यह होता है कि इस जनता से प्रेरणा पाने वाले कवि और लेखक भी हिन्दू-मुस्लिम शब्दों का भेदभाव भूल जाते हैं। इसलिये हिन्दू राष्ट्रवाद के इन आचार्य ने जनता का झगड़ा ही खत्म कर दिया है। आपने लिखा है—'जनता तो भेड़ों के झुंड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी।......जनता को पेट भर खाने और तन भर कपड़े के सिवा किसी और चीज की चिन्ता नहीं होती।' (मूल पुस्तक—पृ० ८५)।

यह तर्क भी अधिक मौलिक नहीं है। जब हिन्दुस्तान में आजादी का आन्दोलन चला, तब अँग्रेज साम्राज्यवादियों ने भी यही दलील पेश की थी कि हिन्दुस्तान की आम जनता को तो खाने-पहनने से मतलब है; कुछ थोड़े से असन्तुष्ट लोगों ने उसे आजादी का नाम लेना सिखा दिया है। अगर उन्हें पकड़ कर जेल में बन्द कर दिया जाय तो वह आजादी का हल्ला भी एक दिन में खत्म हो जायगा। इस विचार के अनुसार जनता को भेड़ और अपने को भेड़िया समझने वालों ने काम भी किया लेकिन उसका फल क्या हुआ, इसे सारी दुनिया जानती है। श्रीमान् रविशङ्कर शुक्ल जनता को 'लैंगुएज कशिस' करने के फेर में स्वयं जनता की शक्ति से 'अनकांशस' हो गये हैं! लेकिन अँगरेज बहादुर की शक्ति पर आप का विश्वास अडिग है! भारतीय जनता तो अपनी भाषा के प्रति कभी जागरूक नहीं रही लेकिन 'भला हो अँगरेज बहादुर का जिसने फ़ारसी को हटा कर प्रान्तीय भाषाओं को प्रतिष्ठित किया' (पृ० ५८)। गोया लार्ड मैकाले ने हिन्दी का सर्वनाश करने के लिये कुछ उठा रखा था। और उनकी

चलाई हुई शिक्षा प्रणाली के लिये हिन्दुस्तानियों को उनका कृतज्ञ होना चाहिये! अपनी जनता को गाली कि वह भेड़ है और अँगरेज के लिए शाबाशी कि वह इन्साफपसन्द है—यह है हिन्दू राष्ट्रवाद का सच्चा रूप!

हिन्दीभाषी जनता को भेड़ियाधसान बना कर इस लेखक ने हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों को भी उसमें शामिल कर लिया है। यह हिन्दी के लिये गर्व की बात है कि उसके बड़े-बड़े साहित्यकारों ने बोल-चाल की भाषा को अपना आधार बनाया है। रविशङ्कर शुक्ल की समझ में इस बोल-चाल की भाषा को अपनाने का मतलब है उर्दू कोष को अपनाना। लिखा है—'उर्दू कोष केवल हिन्दी शब्द सागर में ही नहीं समाया हुआ है, वह व्यवहार में भी बहुत हद तक हिन्दी पत्रों और पुस्तकों के पन्नों पर विद्यमान है, और हिन्दी के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों की बोलचाल में भी विद्यमान है, बल्कि यों कहिये, बोलचाल में और भी अधिक प्रबल रूप से विद्यमान है।' (पृ० ३)। इस बोलचाल के खतरे से बचने के लिए आपने यह बाबा वाक्य प्रमाण रूप में रखा है—'कण्ठगतऽपि प्राणे यावनी न वदेत।' और टीका की है—'संस्कृत की इस अखण्ड पीढ़ी में आज हिन्दी है। आज हिन्दी को वही काम करना है जो संस्कृत ने, पाली ने और अपभ्रंश ने किया है।' (पृ० ६)। संस्कृत की अखण्डता से अपभ्रंश कैसे पैदा हो गई, अपने अद्भुत भाषा-विज्ञान का प्रकाश इस प्रश्न पर भी डाल देते तो हिन्दी वाले और सावधान हो जाते।

लेखक को हर जगह हिन्दी हारती हुई और उर्दू जीतती हुई दिखाई देती है। उर्दू की जीत का कारण उसका विशुद्धतावाद यानी हिन्दी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति बताई गई है। अब उस विशुद्धतावाद को हिन्दी में लागू करने का हठ किया गया है। वास्तव में हार न हिन्दी रही है, न उर्दू, उर्दू हार रहे हैं दोनों तरफ के विशुद्धतावादी जो दोनों को बोलचाल के ८०, फीसदी शब्दों के आधार पर नजदीक आते देख कर हाय-हाय करके छाती पीट रहे हैं। उनका यह काम उचित भी है क्योंकि दोनों के पास आने को वह बिल्कुल नहीं रोक पाते! लेखक ने कई जगह ऐसे शब्दों की सूची बनाई है जिन्हें वह हिन्दी से निकाल देना चाहता है। (पृ० २२-२३) पर ऐसे शब्दों की सूची देखने लायक है।

इसमें तलाश सूराख, वजन, शोरगुल, पैदावार, दाग, दर्द, रोशनी, हजम करना, सख्त, नजदीक, मेहमान, कमरबन्द, बीबी, दिल, किताब, अन्दर, तरफ, इन्कार, खरीदना, आवाज देना, खून जैसे शब्द हैं जिन्हें हिन्दू संस्कृति के लिये घातक बताया गया है। पाठक स्वयं सोचें कि हिन्दी भाषा को इन शब्दों से खतरा है या रविशङ्कर शुक्ल जैसे उसके समर्थकों से।

इन शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची तो और भी मनोहर हैं! किताब के लिये केवल 'पोथी' लिखना चाहिये और बीबी के लिये 'बहू!' अपने शब्द-शास्त्र के साथ-साथ सामाजिक आचार-शास्त्र भी बदल दिया है और ससुर-बहू के सम्बन्ध को पति-पत्नी के सम्बन्ध का दर्जा दे दिया है।

हिन्दी वालों को सावधान करने वाले इन सज्जन से अगर कोई पूछे कि क्या आपने यह 'पोथी' अफीम खाकर लिखी थी तो कोई बेजा सवाल न होगा। ऐसे एक-दो नहीं पचीसों शब्द हैं जिन्हें आपने हिन्दी से निकालने की सलाह दी है लेकिन जो दूसरी जगह आपके 'लैंगुएज कांशस' दिमाग पर भी सवार हो गये हैं। मिसाल के लिए पृ० ३३ पर आप 'किला' शब्द निकाल देने की सलाह देते हैं लेकिन पृ० १५६ पर हिन्दी शत्रुओं का मुकाबला करने के लिये 'किले' की ही शरण ले बैठे हैं।

इस सूची में आपने 'बच्चा' शब्द भी रखा है जिसे हिन्दी से आप विदेशी समझ कर निकालना चाहते हैं! पाठकों को ऐसी अपार मूर्खता पर विश्वास न हो तो इस पुस्तक के पृष्ठ ३४ की दूसरी लाइन देख लें। लेकिन वाह रे बच्चो शाबाश! पृ० १७६ पर जब लेखक महाशय हिन्दी रक्षा-संघ स्थापित करने में लगे थे, तभी आठवीं पंक्ति में तुम भी आ कूदे ('हिन्दी जनता में प्रबल आन्दोलन किया जाय कि वह अपने बच्चों को…' इत्यादि।) इसी तरह 'आबादी' का आप विरोध करते हैं लेकिन पृष्ठ २५ पर अवध को 'आबाद' करते हैं। आदत आपको पसन्द नहीं लेकिन पृष्ठ २७ पर आप खुद उसके 'आदी' दिखाई देते हैं। जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले और वह आपके ही नहीं हिन्दी-उर्दू दोनों के विशुद्धतावादियों के सिर पर चढ़ कर बोलता है। जितना ही बोलचाल के शब्दों से पर झाड़ते हैं, उतना ही वे चिपकते जाते हैं!

पृ० ४०-४१ पर एक दूसरी सूची है, उन शब्दों की जो बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं। इनमें बगावत, कुर्बानी, गद्दार, हिमायत, उस्ताद, हमदर्दी, नाराज, नाखुश, सर्दी जैसे शब्द भी हैं। पूछना चाहिये कि आप किस देश के रहने वाले हैं जो इन शब्दों को बोलचाल का नहीं समझते। आपका दुराग्रह कितना बढ़ा हुआ है, यह इस बात से जाहिर है कि आपने 'देशदूत' जैसे पत्र और बेढब बनारसी जैसे लेखक को—जिन पर हिन्दी-उर्दू के मामले में उदार होने का कलंक कभी नहीं लगाया जा सकता—उन्हें भी उर्दू-परस्तों की पाँति में बिठा दिया है।

आप पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया जायगा, यह आप पहले से ही जानते हैं। इसलिये पृ० ८३ पर आपने गर्व से घोषणा की है—'हमें एक बार नहीं सौ बार प्रतिक्रियावादी कहलाना स्वीकार है।' उसके बाद यह भी मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है कि 'ये सब बातें पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित हैं।' (उप०) बोलचाल के शब्दों के आने से आप भाषा को कृत्रिम मानते हैं; अधिक संस्कृत-निष्ठ होने से हिन्दी स्वाभाविक हो जायेगी! (पृ० ८८-८९ )

एक सुझाव मार्के का है। अगले प्रान्तीय चुनाव के लिए हिन्दी जनता को अभी से तैयार करना चाहिये! (पृ० १७६)। राष्ट्रीय मुसलमानों और कांग्रेस के नेताओं पर यह विषवमन उस चुनाव की तैयारी का ही एक अंग है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो देश को जनतंत्र की तरफ बढ़ने से रोक कर साम्राज्य-वाद की पाली-पोसी हुई व्यवस्था कायम रखना चाहते हैं। इनके प्रचार में एक ऐसी हिन्दी को स्थान दिया गया है जिसका भारत की जनता से यथासम्भव कम सम्बन्ध है! जितना सम्बन्ध हिन्दू राष्ट्रवाद का हिन्दू जनता से है, उतना ही हिन्दी के इन समर्थकों का हिन्दी से। कलम पकड़ते चार दिन नहीं हुये कि तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द—सभी की परम्पराएँ उलटने को तैयार हैं। मानों ईश्वर के यहाँ से हिन्दी की जायदाद का बैनामा कराके लौटे हैं! हिन्दी के उस एक बड़े लेखक का नाम बताइये जिसने इन सिद्धांतों को मान कर रचना की हो। भाषा के निर्माता कुछ अंधे प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकते। उसके निर्माता हिन्दुस्तान के करोड़ों किसान, मजदूर और साधारण लोग हैं जिनकी

बोलचाल की भाषा से आपको असली खतरा दिखाई देता है। हिन्दी बोलने वालों ने जिन शब्दों को अपना लिया है, उन्हें तमाम मुसलमानों को कत्ल कर के भी हिन्दी से नहीं निकाला जा सकता। यह संस्कृति की रामदुहाई जनता के भय से उत्पन्न हुई है क्योंकि एक बार अँग्रेजों से टक्कर लेने के बाद वह जनता उनके देसी नक्कालों से डर कर चुप रहने वाली नहीं है। जिस समय हिंदू-उर्दू के कथित हिमायती एक-दूसरे को कोसते रहे हैं, उस समय यही जनता खेतों, खलिहानों और कारखानों में एक मिली-जुली भाषा गढ़ती रही है जिसकी उपेक्षा करना दोनों में से किसी एक के हिमायती के लिए भी सम्भव नहीं है। हिन्दी अमर है, इसलिए कि वह अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली जनता की सजीव भाषा है।

# सोवियत संघ में भाषाओं की समस्या

सोवियत संघ एक बहुजातीय देश है। वहाँ पर इंगलैण्ड या फ्रांस की तरह एक भाषा बोलने वाले लोग नहीं रहते बल्कि हिन्दुस्तान की तरह कई भाषाएँ बोलने वाले, कई जातियों के लोग रहते हैं। सोवियत संघ ने उन तमाम समस्याओं का सामना किया है और उन्हें समाजवादी तरीके से हल किया है जिनसे मिलती-जुलती समस्याएँ हर बहुजातीय देश के सामने आती हैं और जिन्हें हल करना उसके लिए जरूरी होता है। सोवियत यूनियन को हम एक विशाल प्रयोगशाला के रूप में देखते हैं जहाँ मार्क्सवाद के विज्ञान ने पहली बार जातियों और वर्गों की टक्कर के बीच से जातियों के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का रास्ता दिखाया।

सोवियत संघ के भाषा-सम्बन्धी प्रयोग उन तमाम देशों के लिए दिलचस्प हैं जो सामाजिक विकास की अलग-अलग मंजिलों में वहाँ से मिलती-जुलती समस्याओं का सामना कर रहे हैं।

सोवियत व्यवस्था कायम होने से पहले जारशाही रूस में भाषाओं की समस्या के रूप को, जारशाही रूस में जातियों के विकास की तरफ, उनकी भाषा और संस्कृति के विकास की तरफ, शासक वर्ग के रुख को, समझे बिना हम उस तबदीली को अच्छी तरह नहीं समझ पायेंगे जो सोवियत व्यवस्था कायम होने पर हुई।

जारशाही रूस इङ्गलैण्ड और फ्रांस की तरह एक जातीय राष्ट्र नहीं था। उसमें एक ही भाषा बोलने वालों के बदले कई भाषाएँ बोलने वाले कई जातियों के लोग बसते थे।

इसका सबब क्या था? जारशाही रूस इंगलैंड और फ्रांस की तरह एक जातीय राष्ट्र क्यों नहीं बना?

स्तालिन ने अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और जातियों का सवाल' के दूसरे

अध्याय में इसका जवाब दिया है। उन्होंने बताया है कि सामन्तशाही के खातमे के वक्त जब पूँजीवाद का विकास शुरू हुआ, तब जनता के कई गुटों के मिलने से जातियों के बनने का सिलसिला भी शुरू हुआ। जब ब्रिटेन, फ्रांस और इटली में पूँजीवाद सामन्तशाही पर विजयी हुआ, तब कई गुटों का अलगाव दूर होकर वहाँ एक ही जाति का, राष्ट्र का, गठन भी हुआ। इन गुटों की बोली-बानी मिलती-जुलती थी। वे एक ही प्रदेश में बसते थे। पूँजीवाद ने उनको एक से आर्थिक सम्बन्धों में बाँध कर उन्हें एक जाति ( नेशन ) का रूप दे दिया था जिसकी एक भाषा और एक संस्कृति थी।

पूर्वी यूरोप में नये राष्ट्रों का विकास दूसरे ढङ्ग से हुआ। आस्ट्रिया के राज्य में कई जातियाँ बसती थीं। इनमें राजनीतिक रूप से जर्मन लोग सबसे आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने कई जातियों को समेट कर यह राज्य बनाया। इसी तरह हंगरी में मग्यार लोग आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने हंगरी में एकता कायम की। रूस में रूसी जाति आगे बढ़ी हुई थी। वहाँ उसने अपना सिक्का जमा लिया।

इन देशों में कई जातियों के लोग रहते थे। जिस जाति में पूँजीवादी विकास पहले हुआ, उसने दूसरी जातियों को दबा लिया। ये दबाई हुई जातियाँ अपनी सामंती व्यवस्था की वजह से तुरन्त पूँजीवादी विकास के मैदान में न आ सकीं। इस तरह जारशाही जैसे देश बहुजातीय राष्ट्र बने जहाँ एक जाति दूसरी पिछड़ी हुई जातियों को दबाती थी।

स्तालिन ने लिखा है :—

'राज्यों को बनाने का यह विचित्र ढंग वहीं लागू हुआ जहाँ अभी सामंतशाही का पूरी तरह खात्मा नहीं हुआ था, जहाँ पूँजीवाद का विकास कमजोर था, जहाँ पर पीछे ठेली हुई जातियाँ अभी आर्थिक रूप से सुसंबद्ध जातियों के रूप में सुगठित न हुई थीं।' (मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन, पृ० २१)।

जब पीछे ठेली हुई जातियों में पूँजीवादी विकास शुरू हुआ, तब उनका भी जाति के रूप में गठन होने लगा और उनके अन्दर जातीय भावना पैदा हुई। व्यापार और आवाजाही के साधन बढ़े; नये शहर आबाद हुए। जातियों

का आर्थिक गठन हुआ और इस प्रकार पूँजीवाद ने इन पीछे ठेली हुई जातियों में जिन्दगी की नयी हरकतें पैदा कीं। प्रेस, थियेटर और दूमा (रूसी पालियामेंट) की वजह से जातीय भावना दृढ़ हुई। इनमें जो बुद्धिजीवी वर्ग पैदा हुआ, उसमें यह जातीय भावना भरी हुई थी।

लेकिन पूँजीवादी विकास के मैदान में पीछे रहने वाली ये जातियाँ अब अपने अलग राज्य न बना सकीं। स्तालिन ने बताया है :

'लेकिन जो जातियाँ पीछे ठेल दी गई थीं और जिनमें अब स्वाधीन जीवन फूट रहा था, आज़ाद जातीय राज्यों के रूप में अपना निर्माण न कर सकीं। उन्हें अपने पर हावी होने वाली जातियों के जबर्दस्त विरोध का सामना करना पड़ा। ये हावी होने वाली जातियाँ बहुत पहले राज्य-सत्ता पर कब्जा कर चुकी थीं और उनके मुकाबले में दूसरी जातियाँ बहुत पिछड़ी रह गई थीं।' (उप० पृ० २३)

इस तरह ज़ारशाही रूस में लेत, लिथुआनी, उक्रैनी, जार्जियन, आर्मीनियन आदि जातियों का गठन तो हुआ, लेकिन उन्हें अपने स्वाधीन राज्य बनाने का अवसर न मिला। जारशाही रूस के इस ऊँचे-नीचे पूँजीवादी विकास की खास परिस्थितियों में जातियों का संघर्ष शुरू हुआ।

ज़ारशाही रूस में रहने वाली जातियों का आर्थिक विकास आगे-पीछे हुआ। पीछे ठेली हुई जातियों में सामंती व्यवस्था कायम रहने से और पूँजीवादी विकास देर में शुरू होने या न होने से वहाँ जातियों की समस्या पेचीदा रूप में उठ खड़ी हुई।

भाषाओं की समस्या इसी जातीय समस्या का एक अंग थी। इस जातीय समस्या के कई पहलू थे। उनसे मिलते-जुलते भाषाओं की समस्या के भी कई पहलू थे। इनमें एक पहलू रूसी जाति और रूसी भाषा के विकास से भी सम्बन्धित था। देखना चाहिये कि जारशाही रूस में स्वयं रूसी भाषा को, विकास के लिए, क्या सहूलियतें मिली हुई थीं।

ज़ारशाही रूस में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। १८६० के पहले जारशाही रूस की समाज-व्यवस्था सामंती थी। वहाँ

के आर्थिक ढाँचे में बड़ी-बड़ी जातियों की प्रधानता थी। किसानों को, जो देश की आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा थे, दास-प्रथा का जुआ लादे हुए गुलामों की-सी जिन्दगी बसर करनी पड़ती थी। दासप्रथा की वजह से पैदावार कम होती थी और देश का औद्योगिक विकास भी रुका हुआ था। किसानों में असन्तोष बढ़ रहा था और वे जहाँ-तहाँ विद्रोह करने लगे थे। १८६१ में जार सरकार को मजबूर होकर दास प्रथा खत्म करनी पड़ी।

सोवियत सङ्घ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास हमें बतलाता है कि दास प्रथा खत्म होने पर भी जमींदारों का जोर-जुल्म बन्द नहीं हुआ। किसानों को दो अरब रूबल अपने उद्धार की कीमत (मोआवजे के रूप में) अलग चुकानी पड़ी। 'आजाद' हुए इन किसानों को लगान की भारी रकमें अदा करनी पड़ती थीं और जमींदारों के लिए भी अपने ही हलमाची से खेत जोतने-बोने पड़ते थे। आजाद होने पर भी इन किसानों की हालत करीब-करीब वही बनी रही जो दास प्रथा में थी। सिर्फ जानवरों की तरह वे अब बेचे और खरीदे न जा सकते थे।

इस सामंती व्यवस्था की वजह से रूस का औद्योगिक विकास रुका रहा। जब यह विकास शुरू हुआ तब भी रूस मुख्य रूप से खेतिहर देश ही रहा और उद्योग-धन्धों में वह दूसरे पूँजीवादी देशों से पीछे रहा। इस ऊँचे-नीचे और रुक-रुककर होने वाले सामाजिक विकास का असर रूसी भाषा के प्रसार पर भी हुआ।

जारशाही रूस ने आम रूसी जनता को शिक्षा से वंचित कर रक्खा था। १९१३ में लेनिन ने लिखा था :—

'रूस की सामन्ती व्यवस्था ने ८० फी सदी नयी पीढ़ी को निरक्षरता के अन्धकार में डाल रक्खा है।' (सोवियत लिटरेचर के नवम्बर '४७ के अंक में 'सोवियत संस्कृति के ३० वर्ष' में उद्धृत)।

जारशाही रूस के एक मंत्री ने फर्मान निकाला था :—

'बावर्चियों के बच्चे, खानसामाओं, छोटे दूकानदारों वगैरह के बच्चे न तो हाई स्कूलों में भर्ती किये जायँ, न कालेजों और ऊँचे शिक्षाकेन्द्रों में।' (मॉस्को

न्यूज, २६ अक्टूबर '४७)। शिक्षा में वर्ग-हितों का ध्यान किस तरह रक्खा जाता था, इसके बारे में सोवियत सङ्घ के इतिहास में लिखा है :—

'१८२८ में ऐसे स्कूली कायदे बनाये गये जो समाज में विद्यार्थी की हैसियत और दर्जे का ख्याल रखें। यह बात कड़ाई से लागू की जाने लगी। देहात के पैरिश एलीमेंटरी स्कूल ( पंडिताऊ चटसार की तरह ) सबसे नीचे के लोगों के लिए थे। जिला-स्कूल सौदागरों और दस्तकारों के बच्चों के लिए थे।

'यूनिवर्सिटियाँ और जिम्नेसियम सरदारों के बच्चों के लिए थे। तमाम शिक्षा-संस्थाओं को प्राचीन धर्म, निरंकुश राज्यसत्ता और राष्ट्रीयता के सिद्धांतों के अनुकूल चलना पड़ता था।······जिम्नेसियम में जो मुख्य विषय पढ़ाये जाते थे, वे धर्म, ग्रीक और लैटिन थे। (हिस्ट्री ऑफ यू० एस० एस० आर०, भाग २, पृ० १५४)

१६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ईसाई पादरी पैरिश स्कूलों में गिरजाघर वाली वह स्लाव भाषा पढ़ाते थे जिसे बच्चे बिल्कुल न समझ पाते थे। (उप० पृ० २६७)

इस तरह ज़ारशाही ने भरसक कोशिश की कि आम जनता रूसी भाषा में शिक्षा पाने से वंचित रहे।

रूसी अभिजात वर्ग की भाषा फ्रेंच थी। रूसी भाषा दासों और गँवारों की भाषा समझी जाती थी, जिसमें लिखना-बोलना सभ्य और शिक्षित आदमी की शान के खिलाफ था। बहुत-से साहित्यकार यह मान बैठे थे कि जाहिलों की इस जबान में उनके महान् भाव और ऊँचे विचार प्रकट ही नहीं किये जा सकते।

उच्चवर्गों के ये लोग फ्रांसीसी दरबार और वहाँ की नज़ाकत-नफ़ासत की तो नकल करते थे पर फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के असर से वे रूस को बराबर बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन रूस के जो जनवादी लेखक थे वे कोशिश करते थे कि फ्रांस की क्रांतिकारी विचारधारा का असर रूस पर पड़े, उसकी दरबारी संस्कृति और भाषा का असर कम हो।

१६वीं सदी के रूसी साहित्य पर इस संघर्ष की छाप साफ दिखाई देती

है। रूसी लेखकों को अपने जनवादी विचारों के लिए ही नहीं बल्कि अपनी भाषा के लिए भी ज़ारशाही रूस के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा।

पुश्किन ने लिखा—'सौभाग्य से आम जनता अपने विचार फ्रैंच में प्रकट नहीं करती।'

यानी रूसी भाषा में नाटक लिखने के लिए यह सौभाग्य का बात है कि आम जनता फ्रैंच नहीं बोलती। वर्ना रूसी भाषा में नाटक लिखे ही न जा सकते।

पुश्किन के व्यंग्य से जाहिर है कि रूस का शासकवर्ग रूसी भाषा की कैसी उन्नति कर रहा था। पुश्किन और उनके साथियों ने रूसी जनता को नया साहित्य ही नहीं दिया, उन्हें नई भाषा भी दी।

रूसी आलोचक लियोनिद लियोनोव ने अपने एक लेख में इस बात का ज़िक्र किया है कि पुश्किन के साथी लेखक ग्रिबोयदेव की यह एक बहुत बड़ी विशेषता समझी जाती थी कि यह रूसी भी बोल लेता था।

लियोनोव के शब्दों में—

'अभिजात वर्ग के चार सौ घराने विदेशी भाषा ही बोलते थे जिससे मामूली आदमी उनकी बातें न समझ सकें।'

हिन्दुस्तान में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपनी भाषा को इसके नाकाबिल समझते रहे हैं कि उसमें उनके ऊँचे विचार और महान् भाव प्रकट किये जा सकें। ये लोग अँगरेजी के जरिये 'मामूली' आदमियों पर अपनी शिक्षा और संस्कृति का रोब डालते रहे हैं!

लियोनोव ने लिखा है—

'अभी ऐसी आवाज न उठी थी जो सदियों की खामोशी के बाद रूस देश को और रूसी भाषा को जगा सके!' ( लियोनिद लियोनोव, 'दि फेट आफ ए पोएट', वाक्स )

यह वह जमाना था जब कि पढ़े-लिखे लोग रूसी कहलाने में शर्माते थे। उन्हें डर था कि इससे लोग उन्हें अपढ़ और गँवार रूसियों का भाई-बन्द न समझ लें।

रूसी नाटककार फौनविसिन ने अपने नाटक 'ब्रिगेडियर' (१७६८-६९) में रूसी रईसों की तस्वीरें खींची हैं। इसका नायक इवानूस्का रूसी मातृभूमि से उसी हद तक प्यार करता है जिस हद तक दासों के जरिये उसे अपनी रियासत से आमदनी होती है। इसके बाद वह फ्रांसीसी कल्चर का उपासक है और उसकी दृष्टि में फ्रांसीसी कल्चर के प्रतिनिधि फ्रांस के दर्जी और नाई हैं।

इस अभिजात वर्ग के रूप में पुश्किन और ग्रिबोयदोव ने, वेलिन्स्की और चर्निशेवस्की ने, लेनिन और गोर्की ने, रूसी भाषा और साहित्य का विकास किया जबकि ज़ारशाही रूस ने प्रगतिशील बुद्धिजीवियों को बराबर दबाने की कोशिश की।

इस दमन का इतिहास बड़ा ही रोमांचकारी है। इस दमन का मुकाबला करके ही रूसी भाषा विश्व के सबसे प्रगतिशील साहित्य की भाषा बन सकी है।

ज़ारशाही रूस ने जनवादी लेखकों को देश निकाला दिया, उन्हें जेल में डाला, उनकी किताबें छापने पर रोक लगाई और हर तरह से उनकी विचार-धारा को दबा देने की कोशिश की। हर्ज़न को इंगलैंड में रहकर अखबार निकालना पड़ा। वेलिन्स्की और चर्निशेवस्की ने साईबेरिया में देश निकाले का दंड भोगा। लेनिन, स्तालिन, गोर्की—देश-विदेश में राजनीतिक फरारों की जिंदगी बिताने पर मजबूर किये गये। रूसी साहित्य में इनसे बड़े नाम और नहीं हैं जिन्होंने रूसी साहित्य के साथ रूसी भाषा का विकास किया हो।

१९वीं सदी के जनवादी लेखकों ने फ्रैंच के बदले रूसी भाषा को शिक्षा और साहित्य की भाषा बनाया। लेकिन उनकी रूसी भाषा जनता की भाषा से काफी दूर थी। ये लेखक रोमांटिक आदर्शों पर जान देनेवाले लोग थे। जनता की जिंदगी से वे अक्सर दूर होते थे। इसलिए उनकी भाषा और शैली भी जनता की भाषा और शैली से दूर होती थी।

लियोनोव ने उनकी इस खामी के बारे में लिखा है :—

'रोमांटिक आदर्शों ने इन उदारहृदय और बहादुर रूसियों को धरती से ऊपर उठा दिया था। इस तरह वे उस ताकत से हाथ धो बैठे थे जो धरती को छूने से दैत्य एण्टियस को मिली थी। उनके पास वह भाषा भी न थी जिसे

जनता बोलती और समझती हो। वे सिपाहियों के लिये अपनी अपीलें इन शब्दों से शुरू करते थे—'हे सहदेशवासियो! मातृभूमि के उपासको! अभागों के प्रति सहानुभूति से द्रवित होने वालो!'—ये शब्द रूसी भाषा से न बनाये गये थे, वे जनता की भाषा से बहुत दूर थे।' (उप०)

इसके बाद लियोनोव ने ग्रिबोयदेव के पात्र चात्स्की की भाषा के लिये लिखा है कि कल्पना कीजिये कि चात्स्की को हम सोवियत प्रचारक बनाकर किसी गाँव में बूढ़ी दादियों से बातें करने भेज देते हैं। जाहिर है कि उसकी छायावादी शब्दावली से उनके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा।

जनवादी आन्दोलन के साथ-साथ रूसी साहित्य और भाषा का विकास हुआ। इस जनवादी आन्दोलन में रूस के किसानों और मजदूरों ने आगे बढ़ कर हिस्सा लिया। लेलिन और स्तालिन के नेतृत्व में बोलशेविक पार्टी ने जनवादी आन्दोलन को संगठित किया, उसे आगे बढ़ाया और देश-विदेश के तमाम प्रतिक्रियावादियों को हरा कर उसे आजादी और समाजवाद की मंजिल तक पहुँचाया।

इसके प्रतिकूल जारशाही रूस में रूसी भाषा को जनता की भाषा के रूप में विकसित होने और अपना उचित स्थान पाने में तरह-तरह की अड़चनों का सामना करना पड़ा। इन तमाम अड़चनों को दूर करके जनता की भाषा के रूप में अगर वह विकसित हो सकी और अपना उचित स्थान पा सकी तो इसका सबसे ज्यादा श्रेय उस समाजवादी क्रान्ति को है जिसने जनता को आजाद करके उसकी भाषा और संस्कृति के विकास को सुगम बना दिया।

ज़ारशाही रूस की सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था जहाँ दूसरी जातियों और भाषाओं के विकास को रोकती थी, वहाँ एक हद तक वह अपनी जनता को अपढ़ और पिछड़ा हुआ रखकर, शिक्षा और संस्कृति से उसे दूर रख कर, विदेशी पूँजीपतियों और विदेशी भाषा की सेवा कर के स्वयं रूसी जाति और रूसी भाषा के विकास को रोके हुए थी। ये रुकावटें जन आन्दोलन की प्रगति और समाजवादी क्रान्ति की सफलता से ही दूर हुईं।

ज़ारशाही रूस में गैर रूसी जातियाँ सामाजिक विकास की कई मंजिलों से

गुजर रही थीं। उनका आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृति विकास एक जैसा न हुआ था। स्तालिन ने इनके चार मुख्य भेद किये हैं :—

पहले तो उक्रैन, बेलोरूसिया, अजरबैजान के एक हिस्से और आर्मीनिया के लोग थे जो कमोबेश औद्योगिक पूँजीवाद की मंजिल से गुजर चुके थे।

दूसरे अजरबैजान, तुर्किस्तान, वोल्गा प्रदेश, क्राइमिया, बोखारा, खीवा, दागिस्तान आदि के लोग थे जो किसी एक प्रदेश में बस गये थे और उससे उनका लगाव पक्का हो गया था।

तीसरे किरगिज, बाश्किर, चेचेन, ओसेल्स, इंगुश आदि लोग थे जिनकी जमीन पर रूसियों ने अपने उपनिवेश बना लिये थे और उन्हें रेगिस्तान में खदेड़ दिया था।

चौथी तरह के लोग अल्पसंख्यक जातीय गुटों के थे जो बड़ी जातियों के बीच इधर-उधर बिखरे पड़े थे। इनका वर्ग ढाँचा निश्चित नहीं था और न अपना कोई प्रदेश था। इस तरह के लोगों में लेत, एस्थोनिया, पोल, यहूदी वगैरह थे जो बड़ी जातियों के बीच में छोटे-छोटे गुट बनाकर रहते थे।

स्तालिन ने बताया है कि ज़ारशाही इन चारों तरह की जातियों और जातीय गुटों के साथ कैसा व्यवहार करती थी :—

'इन लोगों की तरह ज़ारशाही की नीति, जमींदारों और पूँजीपतियों की नीति, यह थी कि उनके भीतर राष्ट्र-निर्माण ( स्टेटहुड ) के हर तत्व को मिटा दे, उनकी संस्कृति का अंग-भंग कर दे, उनकी भाषा के व्यवहार पर रोक लगाये, उन्हें जहालत में रखे और अंत में जहाँ तक हो सके, उनका रूसीकरण कर दे। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि इन लोगों के विकास का धरातल नीचा रहा और वे राजनीतिक रूप से पिछड़े रहे।' ( स्तालिन—'मार्क्सिज्म एण्ड नेशनल क्वैश्चन, पृ० ६४ )।

किरगिज, बाश्किर आदि लोगों की जमीन पर रूसी कुलक (धनी किसान) और कौसक बसाये जाते थे। जारशाही को उम्मीद थी कि ये लोग उसकी कीर्ति के समर्थक और एजेंट बनकर इन इलाकों में रहेंगे। वहाँ के बाशिन्दे रेगिस्तान में ठेल दिये गये। इनकी तरफ जारशाही की नीति यह थी कि उन्हें नेस्तनाबूद

कर दिया जाय।

इसी तरह अल्पसंख्यक जातीय गुटों की तरफ भी जारशाही की नीति उन्हें नेस्तनाबूद करने की थी। इसके लिये बड़े-बड़े जन-संहारों की तैयारी की जाती थी। इनमें यहूदियों के जन-संहार मशहूर हैं।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास बतलाता है कि जारशाही रूस जातियों का कठघरा था। रूसियों को सिखाया जाता था कि वे गैर रूसियों से नफ़रत करें। गैर-रूसी इलाकों में सरकारी जगहें रूसियों को दी जाती थीं। गैर-सरकारी संस्थाओं और कचहरियों में सारा काम रूसी जबान में होता था। गैर-रूसी जातियों को अपनी भाषा में शिक्षा पाने की, किताबें छापने और अखबार निकालने की, मनाही थी। इसके अलावा जार की यह नीति थी कि एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ भड़काया जाय। काकेशस प्रदेश में तातार और आर्मीनियन जातियों में झगड़े इतिहास में मशहूर हैं।

बोल्शेविक पार्टी ने बिना अतिशयोक्ति के लिखा है :—

'जारशाही गैर-रूसी जातियों के लिये जल्लाद और हत्यारे जैसी थी।'

जल्लाद जारशाही ने गैर-रूसी जातियों की आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता को ही पैरों तले नहीं रौंदा, उसने उनकी भाषा और संस्कृति के विकास पर भी रोक लगाई। उसने उनका रूसीकरण किया या उनको नेस्तनाबूद करने की वह नीति बरती जो गोरे साम्राज्यवाद ने हर जगह आदिवासियों के खिलाफ बरती है।

गैर-रूसी जातियों में पहली किस्म उन जातियों की थी जो औद्योगिक विकास की मंजिल से कमबेश गुजर चुकी थीं। इन जातियों में एक उक्रैनी जाति भी थी।

जारशाही रूस में उक्रैनी भाषा के साथ, उस जाति के साथ जो सरहदी इलाकों के मुकाबले में ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी, कैसा सलूक किया जाता था ?

नवम्बर १९४७ में सोवियत राज्य की ३०वीं वर्षगाँठ पर १, २२, १४, ८५१, उक्रैनियों ने अपने दस्तखत करके एक चिट्ठी स्तालिन को भेजी थी। उसमें उन्होंने जारशाही जुल्म का जिक्र किया था और यह वादा किया था कि वे जल्द

से जल्द जर्मन हमले की बर्बादी दूर करके अपने प्रदेश को खुशहाल बनायेंगे। यह चिट्ठी कल-कारखानों, पंचायती खेतों, मशीन और ट्रैक्टर स्टेशनों, स्कूलों और तमाम दूसरी संस्थाओं में पढ़ी गई थी और उस पर तमाम बहस और मुबाहिसे और नुक्ताचीनी के बाद यह चिट्ठी सवा करोड़ से ऊपर आदमियों के दस्तखत लेकर स्तालिन को भेजी गई।

इसमें कहा गया था :—

'जारशाही के दिनों में उक्रैन जुल्म और अत्याचार के नीचे तड़प रहा था। उक्रैनी संस्कृति, साहित्य और स्कूलों को निर्दयता से दबाया जाता था। जार के मंत्रियों ने उक्रैनी भाषा पर बैन लगा दिया था। जाति की श्रेष्ठ सन्तान—क्रान्तिकारी समाजवाद के प्रतिनिधि—जेल और कालेपानी में जिन्दगी का बड़ा हिस्सा गुजार देते थे।'

जारशाही रूस ने उक्रैनी भाषा और संस्कृति की यह गत बना रक्खी थी। जार के मंत्रियों ने उक्रैनी भाषा के व्यवहार पर बैन लगा रक्खा था। स्कूलों, कचहरियों और तमाम सरकारी संस्थाओं की जबान रूसी थी।

१८६३ की एक गश्ती चिट्ठी ( सर्क्युलर ) में जार सरकार ने भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों काल के लिये उक्रैनी भाषा पर रोक लगा दी थी। उसमें लिखा था—'देयर नेवर वाज़, इज़ और विल बी ए मालोरशियन लैंगुएज।' [ यू० एस० एस० आर० का इतिहास, खण्ड २, पृष्ठ २६२ ]

उक्रैनी भाषा में एक लोकप्रिय क्रांतिकारी कवि हो गया है जिसका नाम था ताराशशेवचेंको। इस महान कवि के नाम पर आज के उक्रैन में पचीसों नाटक-घर, स्कूलों, कालिजों वगैरह के नाम रखे गये हैं। पिछले महायुद्ध में उक्रैनी गुरिल्लों ने अपना नाम शेवचेंको का दस्ता रक्खा था। इस तरह जर्मन विरोधी लड़ाई में वे शेवचेंको के नाम से प्रेरणा पाते थे। जारशाही रूस ने इस महान कवि के साथ कैसा व्यवहार किया था? जारशाही ने उसे अपनी भाषा में कविताएँ लिखने और उनका प्रचार करने की कौन सी सुविधाएँ दी थीं? ताराश शेवचेंको एक दास था। वह उन दासों में था जो खरीदे और बेचे जा सकते थे। उसकी प्रतिभा पर मुग्ध होकर कुछ उदार रूसियों ने उसे दासता से छुड़ाया था।

इसके लिये उसके मालिक जमींदार एंगेलहार्ट ने ढाई हजार रूबल की ऊँची कीमत माँगी थी। यह कीमत देना आसान नहीं था। रूसी चित्रकार ब्रुइलोव ने अपना एक चित्र बेचकर यह रकम इकट्ठा की और शेवचेंको को दासता से छुड़ाया।

शेवचेंको ने अब 'आजाद' होकर कविताएँ लिखना और उन्हें किसानों को सुनाना शुरू किया। उसकी कविताएँ जार की हुकूमत और किसानों को दास बनाकर रखने वाले जमींदारों के लिये चुनौती थीं। सोवियत लेखक एन० मोस्कालेंको ने कविताओं को आदर्श जनवादी क्रान्तिकारी रचनाएँ कहा है, शेवचेंको की रचनाएँ जारशाही के लिए खतरा बन गईं। पुलिस शेवचेंको का पीछा करने लगी। आखिर वह पकड़ लिया गया। पुलिस ने कविताएँ पढ़ीं और तय किया गया कि शेवचेंको ने उन्हें लिखकर मुजरिमाना हरकत की है।

शेवचेंको को कविता लिखने से रोक दिया गया और उसे एक फौजी टुकड़ी में काम करने दूर भेज दिया गया। शेवचेंको ने अपनी डायरी में लिखा—'अगर मैं कोई राक्षस या हत्यारा होता तो इससे सख्त सजा मुझे न दी जा सकती थी।' ( उप० )

शेवचेंको पर सख्त पाबन्दी थी कि वह कविता न लिखे। मौस्कॉलेंको के शब्दों में उसने अपनी जान को खतरे में डालकर कविताएँ लिखीं।

पुलिस को पता चल गया कि वह अब भी कविताएँ लिखता है। उन्होंने उसे जेल में डाल दिया। सात साल तक शेवचेंको जेल में रहा, लेकिन वहाँ भी जारशाही उसकी कलम पर रोक न लगा सकी।

रूस के जनवादी बुद्धिजीवियों ने शेवचेंको को छुड़ाने के लिये बराबर प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप वह जेल से छुटा और दो साल तक बड़ी कशमकश के बाद उक्रैन लौटने की इजाजत भी मिली। शेवचेंको की कविताएँ लोग हाथ से लिखकर एक-दूसरे को पढ़वाते थे। शेवचेंको ने उक्रैनी भाषा को कौन-सा रूप दिया? साहित्य में उसको किस तरह प्रतिष्ठित किया? मौस्कोलेंको ने लिखा है :—

'उक्रैनी भाषा की मिठास और ओज पहली बार शेवचेंको की रचनाओं में

प्रकट हुए ! वह उक्रैनी साहित्य की भाषा के पिता थे। उन्होंने बोलचाल की जबान के के अगाध भंडार को छाना था। उन्होंने उक्रैनी शब्दों के मधुर संगीत को पहचाना था।'

उक्रैनी भाषा और साहित्य के पिता शेवचेंको के साथ जारशाही ने कैसा सलूक किया ? उनकी भाषा और साहित्य की सेवाओं का क्या बदला दिया ?

जारशाही रूस ने अपने जुल्म और दमन से शेवचेंको की जान ले ली। मौस्कालेंको के शब्दों में :—

'उसके विद्रोही हृदय को न कुचल पाकर उसके दुश्मनों ने उसको शारीरिक रूप से खत्म कर दिया।'

उसके मरने के बाद भी उसकी क्रांतिकारी यादगार, उसकी जनवादी कविताएँ, उसकी महान् प्रेरणा देने वाली जीवनकथा, जारशाही के लिए भय का कारण बनी रही।

जार के सेंसर ने कोशिश की कि उसकी रचनाओं को मिटा दे। उसने शेवचेंको की पुस्तकें पढ़ने की मनाही कर दी। जो लोग इस मनाही के खिलाफ काम करते थे, उन्हें सजा दी जाती थी। शेवचेंको उक्रैनी की जनता और उसकी भाषा को हृदय से प्यार करता था। उसने लिखा था—'इस दुनिया में दूसरा उक्रैन नहीं है, दूसरी नीपर नहीं है।'

जनता के इस सच्चे कवि ने उक्रैनी भाषा को साहित्य के सिंहासन पर बिठाया। जारशाही रूस ने उसकी परंपरा को कुचल देने में कुछ उठा नहीं रक्खा। नये सोवियत समाज ने ही उस महान् परंपरा का आदर किया और उसे आगे बढ़ाने में कुछ उठा नहीं रक्खा।

जब उक्रैनी जाति की भाषा का यह हाल था—उस जाति की भाषा का जो औद्योगिक विकास की मंजिल से गुजर चुकी थी—तब अन्य पिछड़ी हुई जातियों की भाषाओं का क्या हाल रहा होगा, यह सहज ही सोचा जा सकता है। जारशाही रूस में करीब चालीस जातियाँ ऐसी थीं जिनकी अपनी लिपि थी ही नहीं। ( मॉस्को न्यूज, २६ अक्तूबर '४७ )।

और जिनके पास अपनी लिपि तक नहीं थी, उन भाषाओं का क्या हाल

रहा होगा इसका अन्दाज भी आसानी से लगाया जा सकता है।

समाजवादी क्रांति के बाद जब कुछ जातियों के पास यह हुक्मनामा पहुँचा कि अब वे आजाद हैं और अपनी भाषा में शिक्षा पा सकती हैं, तब उनमें एक भी पढ़ा-लिखा आदमी न मिला जो इस हुक्मनामे को पढ़ता और उसे अपनी जनता को समझाता।

उदमुर्त जाति के इलाके में खुदमुख्तारी का परवाना आया तो उसे कोई पढ़ने वाला न था। समूची जाति में फी सैकड़ा तीन-चार आदमी पढ़े-लिखे थे और वे दूर कहीं शहरों में रहते थे। (मौस्को न्यूज, ११ नवम्बर '४५)।

जारशाही रूस में गैर-रूसी जातियों के लिए सिर्फ एक नाटकघर था, और वह भी आधा अमेचर था। (मॉस्को न्यूज़, ५ अक्तूबर '४६)

सोवियत तुर्कमीनिया के स्तालिन-प्राइज़ विजेता लेखक बर्दी कर्बाबायेव ने अपने बचपन के दिनों की शिक्षा का हाल यों लिखा है—

'दस साल तक की उम्र तक मैंने स्कूल का नाम भी न सुना था। हमारे गाँव में स्कूल जैसी कोई चीज नहीं थी। दरअसल आसपास की जवार में भी कोई स्कूल नहीं था। मुझे याद है कि आखिर एक दिन पिताजी दूर के एक गाँव में मुझे कुछ दोस्तों के पास ले गये जहाँ पर एक मकतब था।

'मुझे वह सीलन भरी कोठरी याद है जिसमें एक टूटा-फूटा दरवाजा था जिसके तख्तों में बड़े-बड़े छेद थे। कोठरी के बीच में एक मोटा आदमी धारीदार पोशाक और सफेद पगड़ी पहने बैठा था। यह कोठरी मकतब थी और सफेद पगड़ी वाला मोटा आदमी मुल्ला था। उसके पास पतली-पतली संटियाँ रखी हुई थीं—ये सब पढ़ाने का साधन थीं। मुल्ला के सामने लड़के गोल बाँध कर बैठे रहते थे और वह जब-तब उन पर संटी चालू कर देता था। हमारे कपड़े मैले और गंदे थे। हम लोग संटी के सम पर मुल्ला के साथ-साथ आयतें दुहराते थे। बच्चों की वह दर्दनाक आवाज पास के खेतों और सड़क तक जरूर पहुँचती रही होगी जिस पर से घुड़सवार और बैलगाड़ियाँ गुजरती रहती थीं।

'हमें अरबी की बहुत ही मुश्किल लिपि सीखनी पड़ती थी। सारे दिन हम ऐसे शब्दों को रटा करते थे जो समझ में खाक न आते थे। शाम को घर

पहुँचकर जब हम माँ-बाप को अपना सबक सुनाते थे, तब उनके पल्ले भी कुछ न पड़ता था।

'सबसे खराब बात यह थी कि हमारी अपनी जबान में एक भी किताब न थी। कुरान अरबी में थी। जो व्याकरण पढ़ाई जाती थी, वह भी अरबी की थी। कथा-उपन्यासों का जिक्र करना भी गुनाह था।

'इस तरह मकतब में हमने ५-६ साल बिताये। वहाँ से निकलने पर हम उतने ही विद्वान थे जितने वहाँ आने के पहले। तुर्कमीनिया के अधिकांश बच्चों को यह पढ़ाई भी नसीब न होती थी।

'सचमुच आज सोच कर डर-सा लगता है कि हम जिंदगी से कितनी कम चीजों की माँग करते थे। दुनिया के बारे में हम कितना कम जानते थे। अज्ञान और अन्धविश्वासों में जकड़ी हुई कितनी बौद्धिक शक्ति नष्ट हो गई जो विकास का मौका पाने पर अपना चमत्कार दिखा सकती थी।' ( मॉस्को न्यूज, १४ सितम्बर '४८ )

इस बौद्धिक शक्ति को जकड़ने वाली बेड़ियाँ सिर्फ समाजवादी क्रान्ति से टूट सकती थीं। विकास का और कोई तरीका नहीं था जो इस पिछड़ी हुई जाति की भाषा और संस्कृति को उन्नत करने का अवसर देता।

गैर-रूसी जातियों पर जारशाही रूस का दमन और अत्याचार तस्वीर का एक ही पहलू हमारे सामने रखता है। दूसरा पहलू उस दमन और अत्याचार से सम्बन्ध रखता है जिसे गैर-रूसी जातियों के खुद अपने यहाँ का घरेलू पूँजी-वाद और सामन्तवाद उन पर ढाता था। खास तौर से सरहदी इलाकों में मुल्लाओं और अमीरों ने जनता की भाषा और संस्कृति को कुचलने में बहुत हाथ बटाया था। यह हम देख ही चुके हैं कि तुर्कमीनिया के एक गाँव में मुल्ला संटी से अरबी पढ़ाता था। यह कैफियत एक गाँव की नहीं थी; पिछड़े हुए इलाकों के तमाम मुसलमानों को इस्लाम और कुरान के नाम पर मुल्लाओं और अमीरों का गुलाम बना कर रखा जाता था। इसके अलावा सामंत, जमीदार और पूँजीपति एक जाति को दूसरी से लड़ाने में, मजहबी और जातीय दंगे और नर-मेध कराने में, हमेशा अगुवाई करते थे। इसलिए गैर-रूसी जातियों का सामा-

जिक और सांस्कृतिक विकास अकेले जारशाही रूस से लड़ने से ही न हो सकता था; यह विकास अपने घर के सामंतों और पूँजीपतियों के असर को खत्म करने पर ही हो सकता था। इसीलिए रूसी और गैर-रूसी प्रतिक्रियावाद के खिलाफ रूसी और गैर-रूसी मेहनतकश जनता को मिली-जुली लड़ाई चलाना जरूरी था।

स्तालिन ने दिखाया है कि पहली किस्म की जातियों में—जो औद्योगिक विकास की मंजिल से गुजर चुकी थीं—घरेलू पूँजीवाद कौन-सा पार्ट अदा करता था।

उन्होंने गैर रूसी जातियों के विकासमान पूँजीवादी वर्ग के लिए लिखा है।

'नये पूँजीवादी वर्ग के लिए मुख्य समस्या बाजार की होती है। उसका मकसद होता है माल बेचना और दूसरी जाति के पूँजीपतियों के मुकाबले की होड़ में जीत हासिल करना। इसलिए उसकी इच्छा होती है कि वह 'अपना', 'घरका' बाजार कायम करे। बाजार वह पहली पाठशाला है जहाँ पूँजीवादी वर्ग राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ता है।'

[मार्क्सिज़्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ २४]

आगे बढ़ी हुई जाति का पूँजीवादी वर्ग इस बाजार में दखल देता है। वह अपने से होड़ करने वाले विकासमान पूँजीवादी वर्ग को वहाँ से हटा देना चाहता है। बड़ा पूँजीवादी वर्ग आर्थिक कंट्रोल के साथ अपना राजनीतिक कन्ट्रोल भी लादता है। लोगों के नागरिक अधिकारों पर रोक लगाई जाती है। इसके अलावा भाषा और स्कूलों आदि पर रोक के साथ मजहबी पाबन्दियाँ वगैरह भी लगाई जाती हैं।

इस आर्थिक और राजनीतिक कन्ट्रोल के विरुद्ध पीड़ित जाति का पूँजीवादी वर्ग राष्ट्रीय स्वाधीनता का नारा बुलन्द करता है। स्तालिन ने लिखा है—

'वह अपने जाति भाइयों से अपील करता है : 'मातृभूमि' की गुहार मचाता है; वह कहता है कि उसका हित और सारी जाति का हित एक है। वह 'मातृभूमि' के हित में अपने 'देशवासियों' की एक फौज इकट्ठा कर लेता है। उसके देशभाई उसकी बातें अनसुनी भी नहीं करते। वे उसके झंडे के नीचे खड़े होते हैं। ऊपर से जो दमन होता है, उसका असर भी उन पर पड़ता है।

'इस तरह जातीय आन्दोलन शुरू होता है।'

'जातीय आन्दोलन की शक्ति इस बात से निश्चित होती है कि किस हद तक जाति का बड़ा हिस्सा—मजदूर और किसान—उसमें योग देता है।

'सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रवाद (बुर्जुआ नेशनलिज़्म) के झंडे के नीचे इकट्ठा होता है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वर्ग-विरोध किस हद तक बढ़ा है। वर्ग-चेतन मजदूरों का अपना परखा हुआ झंडा है, और कोई सबब नहीं है कि वह पूँजीवादी वर्ग के झंडे के नीचे चले।' (उप० पृ० २५)

इस तरह स्तालिन ने मजदूर वर्ग को अपने घर के पूँजीवादी वर्ग की नीति से आगाह किया है। उसे बताया है कि इस 'मातृभूमि की गुहार' और 'राष्ट्रीयता' की लड़ाई में पूँजीपतियों का स्वार्थ छिपा हुआ है। उन्हें अपने झंडे के नीचे इकट्ठा होना चाहिये।

स्तालिन ने स्पष्ट कर दिया है कि—'विकासमान पूँजीवाद की हालत में जातीय संघर्ष पूँजीवादी वर्गों के हितों के लिए उनका अपना संघर्ष होता है। कभी-कभी पूँजीवादी वर्ग सर्वहारा वर्ग को जातीय आन्दोलन में घसीट लेता है और तब ऊपरी तौर से जातीय संघर्ष एक 'जातिव्यापी' रूप ले लेता है। लेकिन ऐसा ऊपरी तौर से ही होता है। तत्व रूप से यह संघर्ष एक पूँजीवादी संघर्ष होता है, ऐसा संघर्ष जो पूँजीवादी वर्ग के हित में और उसके लाभ के लिए होता है।' (उप० पृ० २७)

इससे ज़ाहिर है कि मातृभूमि और राष्ट्रीयता की गुहार मचाने वाला यह पूँजीवादी वर्ग जनसाधारण को वह आजादी नहीं दे सकता जिसका वह वादा करता है। अगर उसका प्रभुत्व कायम हो जाय तो भी भाषा और संस्कृति के विकास की समस्या हल न होगी। बल्कि जरा सर उठा पाने पर यह राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग पास-पड़ोस की जातियों के साथ वही व्यवहार करने लगता है जो कुछ दिन पहले उसके साथ होता था।

स्तालिन ने दिखाया है, किस तरह आर्मीनिया का पूँजीवाद जार्जिया पर हावी होना चाहता था। इसलिए जार्जिया की पूँजीवादी 'राष्ट्रीयता' रूस-विरोधी न होकर आर्मीनिया-विरोधी थी। आर्मीनिया के पूँजीपतियों ने जार्जिया के

लुटमैया पूँजीपतियों को हटा कर उनके बाजार में दखल जमा लिया था। जाहिर है कि आर्मीनिया का 'राष्ट्रीय' पूँजीवाद भाषा और संस्कृति की समस्या हल करने के बदले जातीय विद्वेष को और बढ़ाता था। अपनी डाकू नीति को चालू रखने के लिए वह अपने मजदूर-किसान अवाम को दबाता था, उसे पिछड़ा हुआ और शिक्षा और संस्कृति से दूर रखता था और इस तरह खुद आर्मीनिया के विकास पर भी रोक लगाता था।

गृहयुद्ध के समय सरहदी इलाकों का पूँजीवादी वर्ग अपने ही मजदूरों और किसानों के खिलाफ साम्राज्यवादी दखलंदाजों से मिल गया। इन इलाकों में बहुत-सी 'राष्ट्रीय' सरकारें कायम हो गईं और उन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि 'राष्ट्र' को विदेशी फौजों के हाथों सौंप दिया।

स्तालिन ने पूँजीवादी वर्ग की इस गद्दारी पर लिखा है—

'आखिर अब सभी पर यह जाहिर हो गया है कि देशी पूँजीवादी वर्ग ( नेशनल बुर्जुआज़ी ) 'अपनी जनता' को जातीय उत्पीड़न ( नेशनल ऑप्रेशन ) से छुड़ाना नहीं चाहता। इसके बदले वह इस जनता से मुनाफा काटने की आजादी चाहती है, वह अपनी पूँजी और विशेषाधिकारों की रक्षा करने की आजादी चाहता है।

'आखिर अब सभी पर यह जाहिर हो गया है कि साम्राज्यवाद से नाता तोड़े बिना, पीड़ित जातियों के पूँजीवादी वर्ग को खत्म किये बिना और इन जातियों के मेहनतकश अवाम के हाथ में ताकत आये बिना इन पीड़ित जातियों की आजादी की बात सोची भी नहीं जा सकती है।' (उप० पृ० ७३-७४)

गैर-रूसी जातियों के पूँजीवादी वर्ग ने मजदूर-किसान अवाम के खिलाफ क्रान्तिविरोधी रुख अपनाकर और साम्राज्यवादी दखलंदाजों का साथ देकर दिखा दिया कि वह जातीय स्वाधीनता और समानता का दुश्मन है और उसके रहते हुए भाषा और संस्कृति की उन्नति होना नामुमकिन है।

जिस तरह गैर-रूसी जातियों का पूँजीवादी वर्ग उनकी स्वाधीनता और समानता का दुश्मन साबित हुआ है, उसी तरह गैर-रूसी जातियों की सामन्तशाही, उसके अमीर-उमरा, बे, जमींदार और मुल्ला भी उनकी स्वाधीनता और

समानता के दुश्मन साबित हुए। इन सामन्ती ताकतों ने जारशाही के सामने हमेशा घुटने टेके और अपनी जनता के खिलाफ क्रान्तिविरोधियों और साम्राज्य-वादियों का साथ दिया।

१८६८ की लड़ाई के बाद बोखारा के अमीर ने जार का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया।

१८७३ में खीवा के खान ने बिना लड़े ही हथियार डाल दिये।

मुल्लाओं और अमीरों की मदद से दास प्रथा और गुलामी कायम रही। खीवा और बोखारा से गुलामी और दास-प्रथा का खात्मा सोवियत व्यवस्था कायम होने पर ही हुआ। [हिस्ट्री ऑफ यू० एस० एस० आर० मास्को १६४८, भाग २, पृष्ठ २२६ ]

जहाँ दास-प्रथा खत्म की गई, वहाँ भी किसानों की हालत नहीं सुधरी। किसानों से उनके चरागाह और बहुत-सी खेती की जमीन छीन ली गई। सोवियत सङ्घ के इतिहास में इस तरह के 'सुधार' को किसानों की लूट कहा गया है जिससे सामन्तों को फायदा हुआ। ( उप० पृ० २२६ )

सोवियत सङ्घ का इतिहास दागिस्तान की सामंती व्यवस्था—जिसने जार-शाही से गठबंधन कर लिया था—का वर्णन यों करता है :

'यहाँ पर समाज का प्रमुख वर्ग खानों और बेगों का था। उज़्देन (किसान) इनके ताबेदार थे। बेगों के पास भी गुलाम होते थे। जब काकेशस पर जार-शाही का अधिकार हो गया, तब खान और बेग रूसी नौकरियाँ करने लगे। ज़ार की फौज के संरक्षण में उन्होंने दूसरे कबीलों (ट्राइबल कम्युनिटीज़) की जमीन पर कब्जा कर लिया और उज़्देनों को अपना बंधक बना लिया। उज़्देनों को मजबूर हो कर अपने स्वामियों के लिए बेगार करनी पड़ती थी और उनके लिए सामान मुहय्या करना पड़ता था। बेगों और खानों की मदद से जार के सेनापति बड़ी निर्दयता से पहाड़ी लोगों का शोषण करते रहे और उन्हें नेस्त-नाबूद करते रहे।' ( उप० पृ० १६५ )

इस तरह गैर-रूसी पिछड़ी हुई जातियों के दो दुश्मन थे—एक तो विदेशी जारशाही और दूसरी देशी सामन्तशाही। इन दोनों को खत्म किये बिना इन

पिछड़ी हुई जातियों के अवाम के लिए शिक्षा और संस्कृति का दरवाजा न खुल सकता था।

देशी सामंतशाही और विदेशी जारशाही—ये दोनों आम जनता को दबा-कर ही कायम रह सकते थे। इसलिए जारशाही की यह जानी-बूझी नीति थी कि पिछड़ी हुई जातियों पर सामन्तशाही का जुआ कायम रहने दिया जाय। स्तालिन ने लिखा है—

'सरहदी इलाकों की जनता को गुलामी और जहालत में रखने के लिए जारशाही वहाँ पर जानबूझ कर सामन्ती दादापंथी उत्पीड़न को पालती थी।' [ मार्क्सिज़्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ८२ ]

१९२० में लेनिन ने चेतावनी दी थी कि जमींदार और मुल्ला इस्लामी एकता के बहाने, विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता की लड़ाई से अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश करेंगे। ( सिलेक्टेड वर्क्स, भाग २, पृ० ६५७ )

क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में यहाँ की जनता ने ज़ारशाही को ही खत्म नहीं किया; उसने अपने यहाँ की सामंतशाही को भी खत्म किया और सदियों की जहालत दूर करके अपनी भाषा और संस्कृति के विकास का रास्ता साफ कर दिया।

ज़ारशाही और सामन्तशाही के दमन और उत्पीड़न के खिलाफ बोल्शेविक पार्टी ने नारा दिया—सभी जातियाँ समान हैं, सभी जातियाँ स्वाधीन हैं! [ मार्क्सिज़्म एण्ड नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ २९७ ]।

बोल्शेविक पार्टी ने एलान किया कि ज़ारशाही रूस को कोई हक नहीं है कि वह बेलोरूसिया, उक्रैन या अज़रबैजान की भाषा और संस्कृति पर रोक लगाये, उनकी जातीय स्वाधीनता और अलग राष्ट्र बनाने के हक को मारे।

बोल्शेविक पार्टी ने ऐलान किया कि ज़ारशाही रूस को कोई हक नहीं है कि वह अमीरों और बेगों से मिल कर कॉकेशस प्रदेश की जातियों का रूसी-करण करे, उनका दोतरफा शोषण करे, उनके सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को रोके।

बोल्शेविक पार्टी ने एलान किया कि जारशाही रूस को कोई हक नहीं है कि वह पिछड़ी हुई जातियों से उनकी जमीन छीन कर रूसी जमींदारों को दे दे और बाशिकर, चेचेन, इगुश आदि लोगों को नेस्तनाबूद करती रहे।

आत्मनिर्णय का सिद्धान्त एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था जो पीड़ित जातियों के जिन्दा रहने और खुलकर अपना विकास करने का मार्ग प्रशस्त करता था। वह पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय फौज के खिलाफ मजदूर वर्ग और मेहनतकश अवाम अन्तर्राष्ट्रीय फौज का नारा था।

आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का साफ राजनीतिक मतलब लेनिन ने यह बताया है—

'जातियों के आत्मनिर्णय का मतलब है, इन जातियों का गैरों से राजनीतिक अलगाव, उनके स्वाधीन जातीय राज्य का निर्माण।' ( दि राइट आफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन, पृष्ठ १० )

स्तालिन ने इसी बात को यों कहा है—

'हर जाति को आजादी से अपना भाग्य निश्चित करने का पूरा हक है। उसको हक है कि वह जैसे चाहे अपनी जिंदगी को व्यवस्थित करे। अवश्य ही, ऐसा करने में यह दूसरी जातियों के हकों को न कुचले।' ( मार्क्सिज़्म एन्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० ३१ )

पूँजीवाद इस सिद्धान्त को लागू नहीं कर सकता। जातियों की स्वाधीनता और समानता की बात पूँजीवाद भी कहता है। लेकिन पूँजीवाद आज तक इस सिद्धान्त को कहीं लागू नहीं कर सका और न वह लागू कर सकता है।

स्तालिन ने इसका कारण यह बताया है—

'पूँजी और व्यक्तिगत संपत्ति लाजमी तौर से लोगों में फूट डालती है, जातीय शत्रुता को भड़काती है और जातीय उत्पीड़न को और तेज करती है। इसके बदले सामाजिक सपत्ति और श्रम उतने ही लाजमी तौर से लोगों को एक-दूसरे के नजदीक लाते हैं और जातीय उत्पीड़न की जड़ काट देते हैं। बिना जातीय उत्पीड़न के पूँजीवाद का अस्तित्व सोचा नहीं जा सकता। इसी तरह पीड़ित जातियों की मुक्ति और उनकी स्वाधानता के बिना समाजवाद का

अस्तित्व सोचा नहीं जा सकता।' ( मार्क्सिज़्म एन्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ६१ )

ज़ारशाही के पतन के बाद जो रूसी और गैर-रूसी पूँजीवादी सरकारें कायम हुईं, उन्होंने अपने कामों से स्तालिन की इस बात को पूरी-पूरी तरह साबित कर दिया।

अप्रैल १६१७ के जाति-संबंधी प्रस्ताव में बोल्शेविक पार्टी ने बताया कि नयी पूँजीवादी सरकार क्यों जातीय उत्पीड़न खत्म नहीं करती। उस प्रस्ताव के शुरू में ही कहा गया था—

'जातीय उत्पीड़न की नीति निरंकुश राजसत्ता और बादशाही से विरासत में ले ली गई है। अपने वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए जमींदार, पूँजीपति और निम्न पूँजीवादी वर्ग उसका समर्थन करते हैं। वे विभिन्न जातियों के मजदूरों में फूट डालने के लिए इस नीति का समर्थन करते हैं। आधुनिक साम्राज्यवाद कमजोर जातियों को दबा लेने की कोशिशें बढ़ाता है। यह एक नया कारण है जिससे जातीय उत्पीड़न तेज हो जाता है।' (लेनिन—सिलेक्टेड वर्क्स, खंड २, पृ० ५३ )

ज़ार के गद्दी-त्याग के बाद रूस में करेंस्की की सरकार बनी। करेंस्की रूस के पूँजीपतियों का प्रतिनिधि था। अपने वर्ग के हितों की रक्षा करने के लिए उसकी सरकार ने जातीय उत्पीड़न को खत्म नहीं किया, बल्कि इस दिशा में उसने ज़ार को भी मात कर दिया। उसने फिनलैंड की पार्लियामेंट को भंग कर दिया और उक्रैन की तमाम सांस्कृतिक संस्थाओं को एक साथ ही दबा दिया।

करेंस्की सरकार के जातीय उत्पीड़न के बारे में स्तालिन ने बताया है—

'ज़ारशाही के खात्मे और पूँजीपतियों के हाथ में सत्ता आने से जातियों के उत्पीड़न का खात्मा नहीं हुआ। जातीय उत्पीड़न के पुराने और भोंदे रूप के बदले एक नया और शाइस्ता रूप आ गया, लेकिन यह रूप और भी खतरनाक था। ल्वोव-मिल्यूकोव करेंस्की सरकार ने जातीय उत्पीड़न को बन्द करना तो दूर रहा, फिनलैण्ड और उक्रैन के खिलाफ एक नयी मुहीम शुरू कर दी (१६१७ में फिनलैंड की पार्लियामेंट भंग कर दी और उक्रैन की सांस्कृतिक

संस्थाओं को सामूहिक रूप से दबा दिया गया।') (मार्क्सिज़्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० ६६)

यह पूँजीवादी सरकार न तो रूस को साम्राज्यवादी युद्ध से अलग कर सकी, न किसानों को जमीन दे सकी और न मजदूरों को शोषण से बचा सकी। इसी तरह वह जातियों के उत्पीड़न को भी बन्द न कर सकी बल्कि उसे बढ़ाने का ही कारण बनी।

गैर-रूसी इलाकों में भी पूँजीवादी सरकारें कायम हो गई थीं। इनका नख-शिख भी वही था जो करेंस्की-सरकार का था।

'पूँजीवादी होने से उन्हें तनिक भी इच्छा न थी कि वे पुरानी पूँजीवादी दुनिया को मिटायें। इसके बदले वे इसे अपना कर्तव्य समझती थीं कि अपने बस भर वे उसे कायम रखें और उसे मजबूत बनायें। वे दरअसल साम्राज्य-वादी थीं, उन्हें साम्राज्यवाद से नाता तोड़ने की जरा भी इच्छा न थी। इसके बदले वे इस बारे में जरा भी आनाकानी न करती थीं कि अगर मौका मिले तो 'गैरों' की जमीन का कोना दबा लें। कोई ताज्जुब नहीं कि सरहदी इलाकों की इन राष्ट्रीय सरकारों ने केन्द्र की समाजवादी सरकार के खिलाफ लड़ाई का एलान कर दिया। एक बार जब उन्होंने लड़ाई छेड़ दी, तब वे स्वभावतः प्रतिक्रियावाद का केन्द्र बन गईं और रूस के तमाम क्रांति-विरोधियों को अपनी तरफ खींचने लगीं। यह कोई छिपी बात नहीं है कि रूस से निकाले हुए तमाम क्रांतिविरोधी इन केन्द्रों में इकट्ठा होने लगे और इन केन्द्रों के चारों तरफ गद्दार 'राष्ट्रीय' दस्ते बनाने लगे।' (उप० पृ० ७२)

इस तरह करेंस्की की पूँजीवादी सरकार ने ही जातीय उत्पीड़न की नीति नहीं अपनाई; छोटे पैमाने पर गैर-रूसी इलाकों की पूँजीवादी सरकारों ने भी वही नीति अपनाई। इसके सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता था। पूँजीवाद के रहते हुए जातियों की स्वाधीनता और समानता का सिद्धान्त अमल में नहीं लाया जा सकता था। यह सिद्धान्त सर्वहारा क्रान्ति के जरिये ही लागू किया जा सकता था। पूँजीवाद और सामन्तशाही के खात्मे से, किसानों और मजदूरों के हाथ में ताकत आने से ही यह सिद्धान्त अमल में लाया जा सकता था।

इसलिए लेनिन और स्तालिन ने बताया कि जातियों के सवाल को कैसे जनवादी और समाजवादी क्रान्ति के साथ जोड़ा जाय और उसी के जरिये उसे हल किया जाय।

जातीय आन्दोलन में पूँजीवाद और सर्वहारा दृष्टिकोण का अन्तर लेनिन ने यह बताया है :—

( १ ) 'जातीय मामलों में पूँजीवादी वर्ग हमेशा अपनी जाति के लिए विशेषाधिकारों और खास हकों के लिए कोशिश करता है। इसको 'प्रैक्टिकल' होना कहता है। सर्वहारा वर्ग तमाम विशेषाधिकारों और खास हकों का विरोध करता है।' ( राइट ऑफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन, पृष्ठ २४ )

( २ ) फलाँ जाति अलग होगी कि नहीं, इसका हाँ या नहीं में जवाब माँगना बहुत 'प्रैक्टिकल' समझा जाता है। दरअसल यों जवाब माँगना बेहूदा है। पूँजीवादी वर्ग अपनी जातीय माँगों को सबसे आगे रखता है। वह उनको नापतौल कर रखता है ( कैटेगोरिकली )। लेकिन सर्वहारा वर्ग के लिये ये माँगें वर्ग संघर्ष के हितों के नीचे हैं।' ( उप० पृ० २४ )

लेनिन ने मजदूर अवाम के वर्ग संघर्ष को प्रमुख जगह दी; जातीय प्रश्न को उससे नीचे बताया। उन्होंने इस मसले पर पूँजीपतियों के वर्गहितों का पर्दाफाश किया और बताया कि वे क्यों जातीय माँगों को सबसे आगे रखते हैं।

स्तालिन ने बताया है कि—'देश में पूरी तरह जनतन्त्र कायम करना ही वह आधार है और जरूरी शर्त है जिसके पूरा होने से जातीय समस्या हल होगी।' ( मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ८० )

स्तालिन ने इस खतरे से आगाह किया कि वे और मुल्ला पुरानी व्यवस्था कायम करने की कोशिश करें तो मार्क्सवादियों का कर्त्तव्य चुप खड़े रह कर तमाशा देखना न होगा।

'क्या सोशल डिमोक्रैसी उदासीनता से देखती रहेगी जब जातीय समस्या हल करने में वे और मुल्ला अवाम की अगुवाई करेंगे?' (उप० पृष्ठ ३१)

स्तालिन ने बताया कि अवाम का हित किसी जाति के साथ रहने से होगा या उससे अलग हो जाने से, यह प्रश्न वहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर

निर्भर करता है। बोल्शेविक पार्टी ने इन ऐतिहासिक परिस्थितियों को सामने रखा, इसीलिए वह जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष को जनवादी क्रांति का अंग बनाने में सफल हो सकी।

'पीड़ित जातियाँ किसानों और शहर के मेहनतकश अवाम के रूप में ही नहीं सताई जातीं। वे एक जाति के रूप में भी सताई जाती हैं, यानी इस रूप में कि उनके मेहनतकश अवाम एक ही राज्यसत्ता, भाषा, संस्कृति, जिन्दगी के एक से तौर-तरीके, रवाज और आदतों के हैं। उत्पीड़न का दोहरा बोझ पीड़ित जातियों के अवाम को इनकलाब की तरफ झुकाये बिना नहीं रह सकता, यह बोझ उसे उत्पीड़न की मुख्य ताकत पूँजी के खिलाफ लड़ने के लिए ठेले बिना नहीं रह सकता। यही वह आधार था जिस पर सर्वहारा वर्ग ने 'सर्वहारा क्रांति' को 'किसान युद्ध' से ही नहीं मिला दिया बल्कि उसे 'जातीय-युद्ध' से भी मिला दिया।' (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ १८७)

पीड़ित जाति का अवाम दो तरह से पिसता था, एक तो अपने आर्थिक वर्ग रूप में और दूसरे अपने जातीय रूप में। यह दोहरा उत्पीड़न उसे पूँजी के खिलाफ बगावत करने की प्रेरणा देता था। पूँजीवादी शोषण के इस दोहरे रूप को सामने रखकर बोल्शेविक पार्टी ने जातीय उत्पीड़न खत्म करने की लड़ाई को समाजवादी क्रान्ति के साथ मिला दिया।

समाजवादी क्रान्ति के हितों को सामने रख कर स्तालिन ने प्रादेशिक खुद-मुख्तारी का नारा दिया। उन्होंने कहा कि जातीय समस्या के हल में प्रादेशिक खुदमुख्तारी का आवश्यक स्थान है। (मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृष्ठ ८२)

स्तालिन ने बताया कि प्रादेशिक खुदमुख्तारी एक ऐसा अस्त्र है जो जातीय भेद को वर्ग-भेद में बदल देता है और इस प्रकार जनवादी क्रान्ति में सहायक होता है। ऐसा होने पर पूरे इलाके की सभी जातियाँ मिल-जुल कर वहाँ की सम्पत्ति का इस्तेमाल करेंगी और अपनी उत्पादक शक्तियों को केन्द्र के फैसलों का इन्तजार किये बिना बढ़ा सकेंगी। (उप० पृ० ८३)

उन्होंने बताया कि वास्तविक जनतन्त्र कायम होने पर जब जातियों को

सच्ची समानता मिल जायगी, तब वे एक ही इलाके में मिल-जुल कर रह सकेंगी।

स्तालिन ने बताया कि मजदूरों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता—रूसी और गैर-रूसी मजदूरों की एकता—ही जातीय समस्या को हल कर सकती है।

इन शर्तों के बिना जातियों की स्वाधीनता और समानता अमल में कायम न की जा सकती थी। इन शर्तों को पूँजीवाद या सामंतशाही पूरा नहीं कर सकती थी। सिर्फ किसान-मजदूरों का सङ्घर्ष और विजयी समाजवादी क्रान्ति ही इस सिद्धान्त को अमल में ला सकी।

जातीय उत्पीड़न में, जातीय आन्दोलन और सङ्घर्ष में, भाषा का महत्व क्या है? भाषा की समस्या जातीय समस्या के साथ अभिन्न रूप से क्यों जुड़ी हुई है?

इस बात का बहुत साफ जवाब लेनिन ने दिया है। उन्होंने बताया है कि पूँजीवाद को अपने पाँव फैलाने के लिए समूची जाति को एक से आर्थिक सम्बन्धों में बाँधने की जरूरत होती है और यह बिना एक भाषा का चक्र चलाए पूरा नहीं हो सकती।

लेनिन ने कहा है—

'तमाम दुनिया में सामन्तशाही पर पूँजीवाद की अन्तिम जीत का समय जातीय आन्दोलनों से जुड़ा रहा है। इन आन्दोलनों का आर्थिक आधार यह था कि बिकाऊ माल की पैदावार को पूरी तरह विजयी बनाने के लिए पूँजीवाद घरेलू बाजार पर कब्जा पा ले, उसके पास राजनीतिक रूप से मिला-जुला प्रदेश हो, इस प्रदेश में बसने वाली जाति एक ही भाषा बोलती हो, इस भाषा के विकास में, साहित्य में, उस भाषा को प्रतिष्ठित करने में जो भी अड़चनें आती हों, वे दूर कर दी जायँ। भाषा मनुष्य के परस्पर व्यवहार का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। आधुनिक पूँजीवाद के अनुकूल पैमाने पर सममुच मुक्त और विस्तृत व्यवहार हो, आजादी से और मोटे तौर पर जनता के वर्ग बने और अन्त में हर छोटे-बड़े मालिक, गाहक और बेचने वाले तथा बाजार के बीच निकट सम्बन्ध कायम हो,—इसके लिये भाषा की एकता और उसका बे रोक विकास

सबसे महत्वपूर्ण शर्तें हैं।' ( राइट ऑफ नेशन्स टू सेल्फ डिटरमिनेशन, पृष्ठ १० )

लेनिन ने आधुनिक भाषाओं के विकास का असली क्रम यहाँ पर पेश कर दिया है। आधुनिक भाषाओं का विकास आधुनिक जातियों के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक विकासमान पूँजीवादी वर्ग सामन्तशाही का पूरी तरह से अन्त कर के किसी प्रदेश के रहने वाले लोगों को बिकाऊ माल तैयार करने और एक मिले-जुले बाजार में उसकी खरीद-फरोख्त करने के सिलसिले में एक से आर्थिक सम्बन्धों में नहीं बाँधता, तब तक भाषायें भी कठित और विकसित नहीं होतीं। विकासमान पूँजीवाद वर्ग अपना घरेलू बाजार कायम करने के लिए भाषा के सवाल को भी उठाता है। पीड़ित जाति के पूँजीवादी वर्ग के लिये यह मुमकिन नहीं होता कि वह बिना भाषा की स्वाधीनता के अपने इलाके में एक मिला-जुला बाजार कायम कर सके। इसीलिये पीड़ित जाति का पूँजीवादी वर्ग जाति के अन्य अधिकारों में अपनी भाषा को महत्व देता है।

भाषा के क्षेत्र में भी, इस प्रकार, आगे बढ़ी हुई जाति के पूँजीपति वर्ग से पिछड़े हुए स्थानीय पूँजीपति वर्ग की टक्कर होती है।

यह रवैया तो पिछड़ी या आगे बढ़ी जाति के पूँजीवादी वर्ग का हुआ। लेकिन जातीय अधिकारों की लड़ाई में भाषा का सवाल सर्वहारा और मेहनतकश अवाम के लिये महत्वपूर्ण है। सर्वहारा वर्ग जब अपने जातीय अधिकारों के लिये लड़ता है तो वह भी भाषा के सवाल को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।

स्तालिन ने बताया है कि सर्वहारा वर्ग के लिये अपनी भाषा का सवाल क्यों महत्वपूर्ण है। स्तालिन ने बताया है कि जातीय अधिकारों का दमन पूँजीवादी वर्ग के मुकाबले में मजदूरों को ही ज्यादा नुकसान पहुँचाता है। इससे मजदूरों का बौद्धिक विकास मारा जाता है। स्तालिन ने लिखा है—

'तातार या यहूदी मजदूर कभी अपना बौद्धिक विकास नहीं कर सकता अगर उसे मीटिंगों और लेक्चरों में अपनी भाषा को इस्तेमाल न करने दिया जाय और अगर उसके स्कूल बन्द कर दिये जायँ।' (मार्क्सिज़्म एण्ड दि नेश-

नल क्वेश्चन, पृ० २७)

स्तालिन ने यह भी बताया है कि सर्वहारा वर्ग भाषा के मसले को किस दृष्टि से देखता है। पूँजीवादी वर्ग सर उठाने का मौका मिलते ही दूसरों का कोना दबाने की कोशिश करता है। वह भाषा के मामले में भी दूसरों के अधिकारों पर हमला करने से नहीं चूकता। पूँजीवादी देश में अल्पसंख्यक जाति के लोगों के लिये अपनी भाषा में शिक्षा पाने का अधिकार एक समस्या बन जाता है। इसके खिलाफ सर्वहारा वर्ग अपने बौद्धिक विकास का दृष्टि-कोण अपने सामने रखता है; इसलिये वह स्वाधीनता और समानता की जमीन पर इस समस्या को हल करता है।

स्तालिन के वाक्यों से ज़ाहिर है कि मजदूर वर्ग के लिये अपनी भाषा में शिक्षा पाने और उसे विकसित करने का अधिकार समाजवादी क्रान्ति से पहले ही नहीं, उसके बाद भी महत्वपूर्ण है।

स्तालिन ने बताया है कि जातीय भाषा में कचेहरी, स्कूल और शासन का काम चलाये बिना सोवियत खुदमुख्तारी अमल में नहीं लायी जा सकती। इस-लिये समाजवादी क्रान्ति का उद्देश्य सफल करने के लिये, हर जाति को अपना राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास करने का अवसर देने के लिये यह जरुरी है कि उसको अपनी भाषा को विकसित होने दिया जाय और तमाम आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक काम उसी की भाषा में होने दिये जायँ

सन् १६२० के अपने एक लेख में स्तालिन ने लिखा था—

'सोवियत खुदमुख्तारी कोई हवाई चीज नहीं है। वह सरहदी इलाकों की जनता के भौतिक विकास का साधन है। वह उन्हें केन्द्रीय रूस के साथ एक ही सर्वहारा राज्य में मिला कर रखने का साधन है।

'सरहदी इलाकों में वास्तिविक सोवियत व्यवस्था तब तक कायम नहीं हो सकती जब तक वहाँ की जनता अपनी ही भाषा में अपना सारा राज्यनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक काम नहीं करती। शासन और संस्कृति का काम जातीय भाषाओं में हो, यह सोवियत व्यवस्था कायम होने का एक सबूत होगा।' ( मार्क्सिज़्म एण्ड दि नेशनल क्वेश्चन, पृ० ८४ )

इन मार्क्सवादी लेनिनवादी मान्यताओं के बल पर स्तालिन ने जाति और भाषा के मामलों में हर राष्ट्रीय गुमराही का डट कर मुकाबला किया। इन मान्यताओं के बल पर ही वह सोवियत जातियों का अटूट एका कायम कर सके।

समाजवादी क्रान्ति के पहले और उसके बाद, दोनों ही दशाओं में, भाषा का सवाल—अपनी भाषा में शिक्षा पाने और अपना बौद्धिक विकास करने का सवाल, अपनी भाषा में तमाम आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन गठित करने का सवाल —सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश अवाम के लिये एक महत्व-पूर्ण सवाल रहा है।

भाषा का सवाल जातियों के सवाल के साथ जुड़ा हुआ है। और जातियों का सवाल वर्ग-संघर्ष के हितों के साथ सम्बद्ध है।

वर्गसंघर्ष के मुकाबले में जातीय समस्या एक गौण समस्या है। उसे अपना अस्त्र बना कर पूँजीवादी वर्ग मेहनतकश अवाम को क्रान्ति की राह चलने से रोकता और भटकाता है, मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में बाधा डालता है। इसलिये उसका सही हल पेश करना जरूरी होता है।

भाषा का सवाल जातीय समस्या में प्रमुख स्थान रखता है। इसलिये पूँजी-वादी वर्ग के हाथ में जनता को भटकाने का यह सबसे बड़ा साधन बन जाता है इसीलिये उसका सही हल पेश करना जरूरी होता है।

भाषा का सवाल जनता को भटकाने का साधन, समाजवादी क्रान्ति से पहले ही नहीं, उसके बाद भी रहता है। नष्ट होते हुए पूँजीवादी गुट और भी जोरों से उस साधन का प्रयोग करते हैं।

१९३४ की एक रिपोर्ट में स्तालिन ने बताया है कि पूँजीवाद के अवशेष बड़ी देर में मिटते हैं। ये अवशेष सब से ज्यादा जातीय मसले में पाये जाते हैं।

पूँजीवाद के अवशेष जातीय पोशाक पहन कर अपनी हिफाजत करते हैं। जातीय पोशाक तैयार करने में भाषा का मसला उनकी खास मदद करता है। ( नेशनल क्वेश्चन, पृ० २६७ )

स्तालिन ने भाषा के सवाल पर जिस तरह और जितनी बार राष्ट्रवादी गुमराहियों का पर्दाफाश किया है, उससे जाहिर है कि पूँजीवाद के अवशेष जातीय क्षेत्र में भाषा का सवाल लेकर सबसे ज्यादा पैर अड़ाते हैं। वे अपनी जातीय पोशाक में भाषा और संस्कृति के उद्धारक और निर्माता का बिल्ला लगा लेते हैं जिससे जनता को भटका कर अपना वर्ग-रूप छिपाने में अधिक आसानी हो।

बोल्शेविक पार्टी के विरोधियों की एक दलील यह थी कि अगर सभी जातियों के आत्म-निर्णय का अधिकार दिया गया तो राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। उनका कहना था कि अगर ज़ारशाही एकता का ताना-बाना टूट गया तो चारों तरफ अराजकता फैल जायगी उनकी एक दलील यह भी थी कि आगे बढ़ी हुई रूसी भाषा और संस्कृति का प्रसार करके ही हम पिछड़े हुए लोगों को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने के अपने मिशन को पूरा कर सकते हैं।

बोल्शेविक पार्टी ने दिखा दिय—सिद्धान्त रूप से मान कर ही नहीं बल्कि असली तौर से आत्म-निर्णय के आधार पर बनी हुई एकता ही सच्ची एकता होती है, और सब एकता ढोंग और पिछड़ी हुई जातियों को दबा रखने और उनका शोषण करने का एक बहाना है। बोल्शेविक पार्टी ने ज़ारशाही रूस की दमन पर आधारित एकता के सचमुच टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उसकी जगह उसने समाजवादी सोवियत प्रजातन्त्रों का शानदार यूनियन कायम किया।

उनकी एक दलील यह थी कि आत्म-निर्णय का अधिकार मानने से पूँजी-पतियों का हित होगा, इससे मजदूर-वर्ग और अवाम की एकता नष्ट हो जायगी। इसलिए मार्क्सवादियों को आत्म-निर्णय की बात नहीं माननी चाहिए।

बोल्शेविक पार्टी ने दिखाया कि यह ऊपर से 'गरम' लगने वाली बात दरअसल 'नरम' पूँजीवादी विचारों का ही समर्थन करती है। यह 'गरम' मालूम पड़ने वाली धारणा एक जाति पर दूसरी जाति के पूँजीपतियों के शोषण को कायम रखती हैं और इस तरह मजदूर वर्ग और मेहनतकश अवाम का एकता मजबूत करने के बदले दरअसल उस एकता के लिये सबसे बड़ी अड़चन बन जाती है। इसलिए बोल्शेविक पार्टी ने पीड़ित जातियों के अवाम से कहा कि

तुम्हें आत्म-निर्णय का पूरा हक है लेकिन इस हक को तुम तभी अमल में ला सकते हो जब आगे बढ़ी हुई जाति के मजदूरों के साथ मिल कर देशी और विदेशी पूँजीवाद और सामन्तशाही के खिलाफ संघर्ष करो।

एक दलील यह थी कि बोल्शेविक पार्टी कुछ लोगों को जबर्दस्ती जाति का रूप दे रही है। ये लोग दरअसल रूसी जाति के ही अन्तर्गत हैं; उन्हें अलग जाति मानना उनके ऐतिहासिक विकास को रोकना है।

रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस में (मार्च १९२१) स्तालिन ने इन लोगों का जिक्र किया था। उन्होंने इस बात का जवाब दिया था कि क्या बोल्शेविक नकली तौर से नयी जातियाँ बना रहे हैं।

स्तालिन ने जातियों के सवाल पर कांग्रेस के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए कहा—'मेरे पास एक पुर्जा आया है जिसमें कहा गया है कि हम बोल्शेविक बेलोरूसियन जाति को नकली तौर से बना रहे हैं। यह बात सही नहीं है क्योंकि बेलोरूसियन नाम की एक जाति है जिसकी रूसी से अलग अपनी जबान है। इसलिए बेलोरूसियन लोगों का सांस्कृतिक धरातल उनकी अपनी भाषा के जरिये ही ऊँचा किया जा सकता है।' (उप० पृ० ११०)

इसके बाद स्तालिन ने उक्रैन के बारे में कहा :—

'इस तरह की बातें करीब पाँच साल से पहले उक्रैन और उक्रैनी जाति के बारे में भी कही जाती थीं। अभी हाल तक यह कहा जाता रहा है कि उक्रैनी प्रजातंत्र और उक्रैनी जाति जर्मनों की कल्पना है। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि उक्रैनी जाति का अस्तित्व है और कम्युनिस्टों का कर्तव्य है कि उसकी संस्कृति का विकास करें। हमें इतिहास के विरोध में न चलना चाहिये।'

उक्रैन और बेलोरूसिया के अलग जाति होने की कसौटी क्या है, इस बारे में स्तालिन ने कहा—

'यह बात स्पष्ट है कि उक्रैन के शहरों में रूसियों की अब भी प्रमुखता है। वक्त बीतने पर यह शहर भी उक्रैनी बन जायँगे। करीब चालीस साल पहले रीगा जर्मन शहर था लेकिन चूँकि शहर बढ़े होते हैं गाँवों के लोगों के आने से और गाँव में जातीयता के रक्षक हैं, इसलिये रीगा अब शुद्ध रूप से लेत जाति

का शहर बन गये हैं। करीब पचीस साल पहले हंगरी के तमाम शहर जर्मन शहर बने हुए थे, अब वे मग्यार जाति के शहर बन गये हैं। यही बात बेलो-रूसिया के लिए भी सच होगी जिसके शहरों में अभी गैर-बेलोरूसियों की प्रमुखता है।' ( उप० पृ० ११० )

इस तरह स्तालिन ने इस दलील का खंडन किया कि बोल्शेविक पार्टी नकली तौर पर जातियाँ बना रही हैं। उन्होंने मार्क्सवाद की रोशनी इस उलझन पर डाली कि शहरों में 'क' जाति प्रमुख है और गाँवों में 'ख' प्रमुख है, तो उस देश की जाति 'क' हुई, या 'ख'।

बोल्शेविक पार्टी का विरोध करने वालों में सिर्फ पूँजीवादी राजनीतिज्ञ और विचारक ही नहीं थे। उसके विरोधियों में ऐसे लोग ही नहीं थे जो खुले आम जारशाही रूस और पूँजीवाद के खात्मे पर आँसू बहा रहे थे। उसके विरोधियों में ऐसे लोग भी थे जो जारशाही रूस और पूँजीवाद के खात्मे पर खुल कर आँसू नहीं बहाते थे, बल्कि चोर नारि जिमि प्रकट न रोई,—वे ऊपर से तो खुशी जाहिर करते थे, लेकिन दिल उनका रोता था।

ऐसे लोगों में एक काट्स्की था, जिसे लेनिन ने अपनी पुस्तक 'सर्वहारा क्रांति और गद्दार काट्स्की' में अमर कर दिया है। कास्ट्की ने भाषा के संबंध में अपना अलग मार्क्सवाद चलाया था। इस 'मार्क्सवाद' का चेहरा अन्तर-राष्ट्रीय था, लेकिन आत्मा उसकी अंध राष्ट्रवादी थी। कास्ट्की ने जर्मनी अंध राष्ट्रवाद को इस प्रकार लागू किया था। उनका कहना था कि १९ वीं सदी में आस्ट्रिया और जर्मनी संयुक्त राज्य में सर्वहारा क्रांति की विजय से वहाँ एकमात्र राष्ट्रभाषा, जर्मन भाषा, का चलन हो जाता यदि वहाँ पर जो जेक जाति के लोग रहते थे, उनका 'जर्मनीकरण' हो जाता। इसके लिए जोर-जबर्दस्ती बिल्कुल न करनी पड़ती, बल्कि जर्मन संस्कृति से बेरोक सम्पर्क होने पर जेक मज-दूर, किसान और मध्यवर्गी लोग जर्मन बन जाते। आखिर उन्हें अपनी 'भोंडी जातीयता' से मिलता ही क्या? ( काट्स्की के अंध राष्ट्रवाद का यह लेखा-जोखा सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की १६ वीं कांग्रेस में स्तालिन ने अपनी रिपोर्ट में दिया है। )

स्तालिन ने १९२५ में इस विचार का खंडन किया था। १९३० में १६वीं पार्टी कांग्रेस में रिपार्ट देते हुए उन्होंने फिर उसका खंडन किया। स्तालिन ने बताया कि अगर काट्स्की का अंध राष्ट्रवाद सही हो तो बोल्शेविक पार्टी को उक्रैन, बेलोरूसियन, ताजिक, तुर्कमन, किरगिज आदि जातियों के रूसीकरण में लग जाना चाहिये। लेकिन रूसीकरण के बदले बोलशेविक पार्टी इन जातियों के स्वाधीन विकास में सहायता दे रही थी।

काट्स्की के कुछ अनबूझ चेले सोवियत संघ में एक ही भाषा के चलन की माँग कर रहे थे। वे कहते थे, मजदूर-मजदूर सब एक हैं, सोवियत सङ्घ में मजदूरों का राज्य है; इसलिए सोवियत सङ्घ की सब जातियों की भाषा एक होनी चाहिये।

स्तालिन ने इस 'अंतरराष्ट्रीयवाद' का नकाब उलट कर उसके पीछे छिपी हुई रूसी राष्ट्रवाद की असली सूरत दिखा दी।

उन्होंने कहा, 'क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि एक ही राज्य की सीमाओं के भीतर, सोवियत संघ की सीमाओं के भीतर, एक आम जबान के लिये आंदोलन करके ये लोग दरअसल पहले की सब पर हावी होने वाली जबान यानी रूसी जबान के विशेषाधिकारों को फिर से कायम करने की कोशिश कर रहे हैं! इसमें अंतरराष्ट्रीय की कौन-सी बात है?'

समाजवादी जहाँ एक तरफ भाषाओं के स्वाधीन विकास का समर्थन करते हैं और उसे रोकने की, उन अंध राष्ट्रवादी कोशिशों का, विरोध करते हैं जो आगे बढ़ी हुई, प्रभुत्व चाहने वाली जाति की तरफ से होता है, वहाँ दूसरी तरफ वे पिछड़ी हुई जातियों के राष्ट्रवाद का भी विरोध करते हैं जब इन जातियों के कुछ लोग सर्वहारा अंतरराष्ट्रीयता के खिलाफ प्रचार करते हैं और भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में यह माँग करते हैं कि आगे बढ़ी हुई जाति की संस्कृति का कोई चिन्ह उनकी अपनी जातीय संस्कृति पर न रहे और उसकी भाषा के शब्द उनकी अपनी जातीय भाषा से निकाल दिये जायं। स्तालिन ने अपने भाषणों में इस गुमराही की तरफ से भी आगाह किया है। उक्रैन के एक अखबार में एक बार यह छपा था कि उक्रैनी कविता को जल्दी से जल्दी रूसी साहित्य और

उसकी शैली से दूर चले जाना चाहिये। स्तालिन ने सावधान किया कि इस तरह की अति से उक्रैनी जाति का सामाजिक जीवन और उसकी संस्कृति सोवियत समाज और संस्कृति की धारा से दूर जा पड़ेंगे।

जातियों के सवाल पर चाहे रूसी राष्ट्रवाद हो, चाहे स्थानीय राष्ट्रवाद हो, दोनों का तत्व स्तालिन ने यह बताया है—

'मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय नीति को पूँजीवादी वर्ग की राष्ट्रीय नीति के अनुकूल बनाना राष्ट्रवादी गुमराही है।' (उप० पृ० २६७)

भाषा के सम्बन्ध में भी गुमराही बुनियादी तौर से इसी तरह की राष्ट्रवादी गुमराही हो सकती है। दूसरे शब्दों में जब हम भाषाओं के स्वाधीन विकास और उनके स्वाभाविक आदान-प्रदान को नहीं मानते तो हम मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय नीति छोड़कर पूँजीपतियों की राष्ट्रीय नीति पर चलने लगते हैं।

इसी आधार पर सोवियत संघ की बहुत-सी पिछड़ी हुई जातियाँ, जिनकी भाषा में नयी सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं के लिए शब्द नहीं हैं, रूसी भाषा से शब्द लेकर इस कमी को पूरा करती हैं। बहुत से शब्द वे खुद अपने अन्दर से बनाती हैं। एक लेखक ने उत्तरी जातियों की मिसाल देते हुए इस बात को यों समझाया है—

'जनता की जिन्दगी पर जब नये असर पड़ते हैं और उनके उत्पादन के तरीकों और सामाजिक सङ्गठन के रूपों में गम्भीर परिवर्तन होते हैं, जैसा कि उत्तरी जातियों के साथ हुआ, जब वे सोवियत व्यवस्था में आधुनिक सभ्यता की तरफ बढ़ीं, तो उनकी भाषा भी इसके अनुरूप बदल जाती है। नयी धारणाएँ प्रकट करने की जरूरत पड़ती है जिनसे लोग पुरानी व्यवस्था में अपरिचित थे। नये शब्द, नये मुहावरे और भावप्रकाशन के नये तरीके बनाने पड़ते हैं।

'उत्तरी जबानों में बहुत से शब्द पुराने शब्दों को मिला कर बनाये गये हैं। भाषा की अपनी प्रकृति का ख्याल रखकर ये शब्द बनाये जाते हैं। मिसाल के लिए सामी लोगों को हवाई जहाज की बात करने में दिक्कत नहीं होती, वे उसे 'उड़न तखत' कहते हैं। इसी तरह कारखाने को वे 'कामघर' कहते हैं। इसके अलावा रूसी शब्द और मुहावरे अपना लिए गये हैं और उन्हें स्थानीय भाषा

की उच्चारण-विशेषता के अनुकूल बना लिया गया है।' ( अलेग्ज़ैंडर इवानोव, सोवियत वीकली, २१ अगस्त, १९४७ )

स्तालिन ने बार-बार रूसी अन्धराष्ट्रवाद के खतरे से आगाह किया है। यह अंध राष्ट्रवाद भाषा के मामले में इस प्रकार प्रकट होता था कि सोवियत सङ्घ में रूसी भाषा बोलने वालों की तादाद सबसे ज्यादा है, इसलिए रूसी भाषा को तमाम प्रजातन्त्रों की आम भाषा, कामन लैंग्वेज मान लेना चाहिये। स्तालिन ने किसी भी भाषा को इस तरह का विशेषाधिकार देने का विरोध किया। उन्होंने इस तरह के विशेषाधिकारों की माँग को रूसी राष्ट्रवाद कहा जो जातियों की स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्त से टकराता है।

स्तालिन ने बताया कि मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीयता इस बात में नहीं है कि पिछड़ी हुई जातियों की भाषा और संस्कृति को विकसित न होने दे, बल्कि 'दरअसल सर्वहारा डिक्टेटरशिप और सोवियत सङ्घ में समाजवादी निर्माण का युग उस जातीय संस्कृति के विकास का युग है जिसका रूप जातीय होता है और भीतरी तत्त्व समाजवादी होता है।' (उप० पृ०१६१)

समाजवादी यह चाहते हैं कि अनेक जातियों की संस्कृति आगे चलकर एक हो, आगे चलकर अनेक भाषाएँ मिलकर एक हों। तब वे इन विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के विकास का समर्थन क्यों करते हैं?

स्तालिन ने इस सवाल का यह जवाब दिया—

'जातीय संस्कृति को अपना विकास और प्रसार करने देना चाहिये और उनके तमाम विकास-योग्य तत्वों को फूलने देना चाहिये जिससे कि वे आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा हो सकें जिनमें एक सामान्य संस्कृति बन सके जिसकी एक सामान्य भाषा हो।' (उप० पृ० १६१)

स्तालिन ने यह बात स्पष्ट कर दी कि आगे चल कर जब समाजवाद की विजय पूरी दुनिया में हो जायगी, जब समाजवादी व्यवस्था सुदृढ़ हो जायगी और समाजवाद एक रोजमर्रा की आम बात हो जायगा, तब अनेक जातियों की भाषाएँ लाजमी तौर से एक-दूसरे से मिलें-जुलेंगी, लेकिन उनके मिलने-जुलने से बनने वाली संसार की एकमात्र भाषा न रूसी होगी, न जर्मन, बल्कि इनसे

अलग एक नयी ही चीज होगी—(पृ० २६४)

इस तरह स्तालिन ने भाषाओं के विकास में डायलेक्टिक्स का सिद्धान्त लागू करके बताया कि अलग-अलग भाषाओं का विकास ही आगे चलकर एक सामान्य भाषा का निर्माण कर सकता है।

स्तालिन की यह धारणा मार्क्सवाद-लेनिनवाद को पुष्ट ही नहीं करती, वरन् आधुनिक भाषा-विज्ञान को उनकी यह बहुमूल्य देन है,—स्तालिन की इस धारणा ने पूँजीवादी भाषा-वैज्ञानिकों और उनकी प्रिय मान्यताओं का तख्ता ही पलट दिया।

पूँजीवादी भाषा-वैज्ञानिकों ने एक स्वर से गैर-रूसी भाषाओं को बोली कह कर उनके भावी विकास को नामुमकिन घोषित कर दिया था। बोल्शेविकों की भाषा सम्बन्धी नीति से वे बहुत असन्तुष्ट थे क्योंकि यह नीति उनके जाने-माने और प्यारे सिद्धान्तों की जड़ काटे दे रही थी।

सोवियत सङ्घ की जातियों की भाषा के विकास ने इन तमाम सिद्धान्तों और महापंडितों की भविष्यवाणी को झूठा साबित कर दिया। इतिहास ने दिखा दिया कि उसकी गति समझने वाले लेनिन और स्तालिन थे, न कि ये विद्वान् और भाषा-विज्ञान के महापंडित!

मिसाल के तौर पर हम मेइये की भविष्यवाणी को ले सकते हैं जिसने बेलोरूसियन, उक्रैनी, लेत, एस्टोनियन, और काकेशन प्रदेश की भाषाओं के भावी विकास से इन्कार किया था। मेइये फ्रांस का सबसे बड़ा भाषा वैज्ञानिक था और अब तक दुनिया के सबसे बड़े भाषा वैज्ञानिकों में उसकी गिनती होती है।

बेलोरूसियन भाषा के लिए उसने लिखा था कि यह साहित्य की भाषा नहीं है और बेलोरूसी नाम की कोई आम ज़बान नहीं है। बेलोरूसियों के पास रूसी छोड़कर दूसरी साधुभाषा नहीं है।

उक्रैनी जबान के बारे में मेइये का कहना था कि रूसी भाषा से अलग अपने पैरों खड़े होना उनके लिये मुमकिन नहीं है। बेलोरूसिया और लिथुआनिया की तरह उक्रैन में अभिजात वर्ग के लोग पोल हैं। इसलिए इन

देशों में उन्हीं की भाषा मुख्य साधुभाषा बन गई है। उनकी अपनी बोलियाँ सहज देहाती बोलियाँ हैं जिनका सम्बन्ध सभ्यता और संस्कृति से नहीं है। लिथुआनियाँ में बड़े-बड़े शहर नहीं हैं जिनमें वहीं के लोगों की बहुतायत हो। इसलिये लिथुआनी जबान का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

काकेशस प्रदेश के लिए उन्होंने कहा था कि वहाँ की आमफहम जबान रूसी हो गई है। तिफ्लिस और बाकू में रूसी बोली जाती है और साम्राज्य के विनाश के पहले वहाँ के स्कूलों, शासन-संस्थाओं और व्यापार वगैरह की जबान रूसी थी। मेइये ने फ्रांसीसी उपनिवेश अल्जीरिया की मिसाल दी कि उसकी साधुभाषा भी फ्रांसीसी बन गई है। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद जिस तरह उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेशों में वहाँ की भाषा और संस्कृति का गला घोंटने की कोशिश कर रहा था, उसी तरह जारशाही रूस सरहदी इलाकों की जातियों की भाषा और संस्कृति का गला घोट रहा था। मेइये ने भाषा-विज्ञान का वर्ग आधार निबाहते हुए फ्रांसीसी और रूसी दोनों ही साम्राज्यों की नीति का समर्थन किया!

उन्होंने यूरोप में जबानों की बहुतायत पर परेशानी जाहिर की है। उनकी ख्वाहिश है कि इनकी तादाद कुछ कम होनी चाहिए। उनकी राय में इतनी जबानों का फलना-फूलना ऐसा सङ्कट पैदा कर रहा है जिससे निकलना बहुत मुश्किल हो जायगा। भाषाओं की बहुतायत को वह सभ्यता के विकास की तमाम धाराओं के खिलाफ समझते थे।

विशाल ज़ार-साम्राज्य में रूसी भाषा के जरिये तमाम जातियों की एकता कायम हो, भाषा के जरिये ही उनकी सभ्यता और संस्कृति का विकास हो, इस पूँजीवादी वर्ग भावना पर मेइये ने भाषा विज्ञान की मोहर लगा दी थी। आज उक्रैनी बोलोरूसी ही नहीं, काकेशस प्रदेश की भाषाओं में, सुदूर उत्तर की एस्किमो जाति की भाषा में जो किताबें निकल रही हैं, वे मेइये की भविष्यवाणी को ही झूठा साबित नहीं कर रहीं, वे लेनिन की इस धारणा को भी पुष्ट कर रही हैं कि वर्ग भेद वाले समाज में विज्ञान और संस्कृति वर्गों से परे नहीं है।

रूसी भाषा द्वारा एकता कायम करने के प्रबल पक्षपाती होने के कारण लाजमी तौर से मेइये की हमदर्दी रोमानोव खान्दान से थी जिसने यह एकता कायम करने में सबसे गौरवपूर्ण काम किया था। इसलिये महान् ज़ार-साम्राज्य का ध्वंस होते देखकर, रूसी भाषा द्वारा कायम की जाने वाली एकता का स्वप्न भंग होते देखकर, मेइये का हृदय चीत्कार कर उठा—'आह, अब की बिगड़ी न जाने फिर कब बनेगी!'

समाजवादी क्रान्ति से जातीय उत्पीड़न की नीति में, राजनीति, भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुआ वह इन शब्दों से जाहिर होता है—

'अब जमींदारों और पूँजीपतियों को खत्म कर दिया गया है और इन इलाकों में भी आम जनता ने सोवियत राज कायम करने की घोषणा कर दी है, इसलिए गैर-रूसी जातियों के मेहनतकश अवाम की पार्टी का कर्तव्य है कि वह मदद करे कि वे अपने से आगे बढ़ी हुई रूसी जाति के बराबर आ जायँ। उसे इन बातों में मदद देनी चाहिए—(१) अपनी जातीय विशेषता के अनुकूल रूपों में वे सोवियत राज्य-व्यवस्था को विकसित करें और दृढ़ बनायें। (२) वे अपनी कचहरियों, शासन-संस्थाओं, आर्थिक और सरकारी संस्थाओं का संगठन करें। ये संस्थाएँ वहीं की भाषा में काम करें और उन्हें चलाने वाले वहीं के लोग हों जो स्थानीय जनता के रीति-रिवाजों और मानसिक गठन साइकॉलोजी से परिचित हों। (३) वे प्रेस, स्कूलों, नाटकघरों, क्लबों, और आम तौर से सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं को विकसित करें और ये सब वहीं की भाषा में अपना काम करें।' (उप० पृ० ६४६५)

इससे जाहिर है कि बोल्शेविक पार्टी की नीति भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में जातियों की राजनीतिक स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्त को पूरी तरह लागू करती थी। उसने उनकी भाषा और संस्कृति के विकास पर किसी तरह का भी बंधेज स्वीकार नहीं किया। उसने भाषाओं की समस्या को जातियों की पूर्ण स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्त के बल पर हल किया। भाषाओं पर, किसी भी तरह की पाबन्दी लगाना उसने जातीय उत्पीड़न का ही एक रूप समझा।

अप्रैल १९१७ में होने वाली कान्फ्रेंस में बोल्शेविक पार्टी ने जातियों की समस्या पर स्तालिन की रिपोर्ट के बाद एक ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया था। उसमें भाषा और संस्कृति के बारे में ये बातें कही गई थीं—

'पार्टी माँग करती है कि मोटे तौर पर प्रादेशिक स्वायत्त शासन कायम हो, ऊपर से नियंत्रण का खात्मा किया जाय, लाजमी राजभाषा को रद्द किया जाय, खुद मुख्तार और स्वायत्त प्रदेशों की जनता, वहाँ की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए, आबादी में किन-किन जातियों के लोग हैं, यह सब देखते हुए, उन प्रदेशों की सीमाएँ नियत करें।' (लेनिन, सिलेक्टेड वर्क्स, खण्ड २, पृ० ५५४)

सोवियत सङ्घ के सोलह समाजवादी प्रजातन्त्रों को शिक्षा और सांस्कृतिक विकास में पूरी स्वाधीनता है। उनके स्कूलों, कॉलेजों, और न्यायालयों की भाषा उनकी अपनी जातीय भाषाएँ हैं।

अनेक देशों में अपनी भाषा के साथ जिस प्रकार एक विदेशी भाषा सिखाई जाती है, उसी प्रकार सोवियत संघ के प्रजातन्त्रों में, सेकेंड और मिडिल स्कूलों में, रूसी भाषा अनिवार्य रूप में पढ़ाई जाती है। सोवियत संघ के प्रजातंत्रों के लिए—जिनकी भाषाओं का विकास रुका हुआ था—यह स्वाभाविक और जरूरी भी था कि संस्कृति और विज्ञान की उन्नति करने के लिए वे रूसी भाषा का अध्ययन करें। सोवियत संघ अनेक जातियों का स्वेच्छा से बना हुआ संघ है। इसलिए उनकी इच्छा के बिना, उनकी भाषा और संस्कृति के लिए हानिकारक, किसी भी तरह की भाषा-सम्बन्धी स्कीम वहाँ चल ही नहीं सकती।

१९१७ की महान् समाजवादी क्रान्ति ने रूसी साम्राज्य की तमाम जातियों को आजाद किया। उसने इन तमाम जातियों को अपनी भाषा और संस्कृति को विकसित करने का हक दिया।

सोवियत सरकार ने इस हक को शब्दों में एलान करके चुप्पी नहीं साध ली। उसने वे भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कीं जिनमें यह हक अमल में लाया जा सके।

सोवियत सरकार ने निरक्षरता के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी। उसने देश में

व्यापक शिक्षा-प्रसार किया जिससे लोग अपनी नयी पायी हुई आजादी से फायदा उठा कर अपना सामाजिक और सांस्कृतिक विकास कर सकें।

सोवियत सरकार ने छापेखानों को जनता की सम्पत्ति बनाकर करोड़ों की तादाद में किताबें छापीं जिससे साहित्य और संस्कृति सोवियत संघ की तमाम जनता की सम्पत्ति बन सके। जारशाही रूस में दूसरे महायुद्ध के पहले अस्सी लाख विद्यार्थी स्कूलों में पढ़ते थे। सोवियत संघ में दूसरे महायुद्ध के पहले तीन करोड़ दस लाख विद्यार्थी स्कूल जाते थे। सोवियत क्रान्ति के बाद उन्नीस साल में साढ़े चार करोड़ बालिगों को लिखना पढ़ना सिखाया गया।

पहले महायुद्ध के समय ताजकिस्तान में सिर्फ चार फीसदी लोग पढ़े-लिखे थे। दूसरे महायुद्ध के बाद वहाँ पर बहत्तर फीसदी लोग पढ़े हुए थे। सोवियत संघ की नई योजना के अनुसार १९५० के आखीर तक एक लाख तिरानवे हजार एलीमेन्टरी और सेकेंडरी स्कूल हो जायँगे।

सोवियत बजट का २८ फीसदी हिस्सा शिक्षा और संस्कृति पर खर्च किया जाता है। ( मास्को न्यूज, ११ अप्रैल १९४७ से ये आँकड़े दिये गये हैं। )

ज़ाहिर है कि इतने विशाल शिक्षा-प्रचार से ही साहित्य और संस्कृति जनता की सम्पत्ति बन सकते हैं। इस शिक्षा-प्रचार के जरिए ही भाषा अपनी पूरी भूमिका अदा कर सकती है। लेनिन ने कहा था कि भाषा सामाजिक व्यवहार का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। सोवियत समाज में भाषा का यह रूप पूरी तरह से निखर रहा है।

ज़ारशाही रूस में किताबों की सिर्फ पाँच-छः करोड़ प्रतियाँ सालाना छपती थीं। १९४७ में तैंतालिस करोड़ प्रतियाँ छापने का प्रबन्ध किया गया था। इस पर भी जनता की माँग पूरी नहीं हो पाती थी। अगर इससे १० गुनी किताबें छापी जायँ तो भी उनकी तुरन्त खपत हो जाय। मास्को में दुकानों के सामने लोग वैसे ही पाँति बाँध कर खड़े होते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में सनीमा के टिकट लेने के लिए। बड़े-बड़े शहरों में किताबों के अलग बाजार लगते हैं। बढ़िया टीमों का फुटबाल मैच देखने के लिए जितनी भीड़ इकट्ठा होती है, उससे कहीं ज्यादा भीड़ इन किताबों के बाजारों में इकट्ठा होती है। ( मास्को

न्यूज, १७ मई ४७ )

किताबें छपते ही झटपट बिक जाती हैं और जो देर से पहुँचा, वह टापता ही रह जाता है। काताएव की पुस्तक 'फौज का पुत्र' (सन ऑफ दि रेजीमेण्ट') की पन्द्रह हजार प्रतियाँ तीन घंटों में बिक गईं।

राजनीति और कथा साहित्य की किताबें पचास हजार से लेकर एक लाख प्रतियों तक के संस्करण में छपती हैं। फादाएव के उपन्यास 'नौजवान गार्ड' ('यंग गार्ड') की चार लाख दस हजार प्रतियाँ सिर्फ रूसी भाषा में छपी थीं। इसके अलावा यह किताब और दूसरी बीस ज़बानों में भी छपी है। ( मास्को-न्यूज १७ मई, १९४७ )।

प्रकाशन के साथ सोवियत संघ के विशाल पुस्तकालय हैं जो जनता तक तरह-तरह की पुस्तकें पहुँचाते हैं। ज़रशाही रूस में सिर्फ १२,६००० लाइब्रेरियाँ थीं जिनमें ८९ लाख पुस्तकें थीं। दूसरे महायुद्ध के पहले सोवियत संघ में ७७,५९० लाईब्रेरियाँ थीं जिनमें १४,६८,०२,९०० पुस्तकें थीं।

इन तमाम बातों का असर रूसी भाषा के विकास पर भी पड़ा है। साहित्य की भाषा और जनता की भाषा दो अलग-अलग चीजें नहीं रह गई हैं। बोल-चाल के मुहावरों ने रूसी भाषा को और समृद्ध किया है। सोवियत भाषा-वैज्ञानिक रूस की बोलियों का अध्ययन कर रहे हैं। रूसी बोलियों पर उन्होंने तेरह जिल्दों में एक विशाल ग्रन्थ निकालने की योजना बनाई है। रूसी भाषा को फ्रान्सीसी या और किसी विदेशी भाषा के मुकाबले में अपढ़ गुलामों की जबान नहीं समझा जाता। स्वाधीन जाति की स्वाधीन भाषा के रूप में वह अपना विकास कर रही है। इसके साथ ही कालिज में पढ़ने वाले हर विद्यार्थी का अँग्रेजी, फ्रांसीसी या जर्मन में कम-से-कम एक विदेशी भाषा जानना जरूरी होता है। शिक्षा मंत्री कफ्तानोव ने कहा था, 'जो अपनी विदेशी भाषाएँ नहीं जानता, उसे यह प्रत्यक्ष जानने का कम से कम अवसर मिलता है कि बाहर विज्ञान और कौशल में क्या काम हो रहा है और इसलिए वह अपने क्षेत्र में ऊँचा विशेषज्ञ नहीं हो सकता है।' ( 'मास्को न्यूज,' २८ मई १९४७ )।

इसलिए विदेशी भाषाओं के अध्ययन की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता

है। यह जहनियत पनपने नहीं दी जाती कि हम श्रेष्ठ हैं, इसलिए दूसरी भाषाओं का जानना जरूरी नहीं है।

रूसी के अलावा गैर-रूसी भाषाओं ने जो तरक्की की है, वह और आश्चर्य-जनक है। कभी जिन्हें भाषा का दर्जा न दिया जाता था, उनमें अब लाखों किताबें छपती हैं और हज़ारों स्कूलों में उन्हीं के ज़रिये शिक्षा दी जाती है। पहले उन जातियों को देखना चाहिए जो औद्योगिक विकास की मंजिल से कमोबेश गुज़र चुकी थीं लेकिन जिनकी भाषा को ज़ारशाही दबा रखा था।

ऐसी जातियों में बेलोरूसियन जाति थी जिसे अपनी भाषा में शिक्षा पाने का हक नहीं था। १६१७ में बेलोरूसियन ज़बान में एक भी किताब न छपी थी। १६४७ में बेलोरूसी पुस्तकों की एक करोड़ प्रतियाँ छापने का प्रबन्ध किया गया। ( मास्को न्यूज़, १७ मई, ४७ )।

उक्रैनी जाति ने दूसरे महायुद्ध के पहले तक निरक्षरता को बिल्कुल खतम कर दिया। उक्रैन के तीस हज़ार स्कूलों में बच्चे अपनी भाषा में शिक्षा पाते थे। उक्रैन में २५,४८४ पुस्तकालय थे जहाँ से लोग पुस्तकें ले कर पढ़ते थे। ( मस्को न्यूज १६ नवम्बर १६४७ )। १६४८ में स्कूली किताबों की दो करोड़ प्रतियाँ छापने का प्रबध किया गया था। ये सब किताबें उक्रैनी ज़बान में थीं। ( मास्को न्यूज़, १७ अगस्त '४८ )।

बेलोरूसियन, उक्रैनी आदि भाषा के अलावा दूसरी गैर-रूसी भाषाओं को भी उन्नति करने का पूरा मौका दिया गया। सोवियत लेखकसंघ में रूसी लेखकों के अलावा और तमाम भाषाओं के लेखक शामिल हैं। इस लेखक संघ में ५४ भाषाओं के लेखक हैं। इनमें सब से बड़ी तादाद रूसी भाषा के लेखकों की है। सब से कम तादाद उत्तरी कॉकेशस की अदीघी जाति के लेखकों की है। यह जाति संख्या में बहुत कम है, लेकिन इसका भी एक प्रतिनिधि-लेकख सोवियत लेखक-सघ का सदस्य है। (मास्को न्यूज, ५ जून '४६)।

लिथुआनियन वह भाषा है जिसके भविष्य के बारे में भाषा वैज्ञानिक मेइये ने शंका प्रकट की थी। लिथुआनिया के छोटे से प्रदेश में ११ कालेज और विश्वविद्यालय हैं। विलनियस और कौनास की युनिवर्सिटियों में लोग ऊँचे

ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा पाते हैं। ( मास्को न्यूज, ५ जुलाई '४७ )।

एस्टोनिया की तारतू युनिवर्सिटी में ४०० शिक्षक हैं और वे सभी एस्टोनियन हैं। 'मास्को न्यूज' में लीडिया बाख ने लिखा है—

'तारतू विश्वविद्यालय में एक भी रूसी प्रोफेसर नहीं हैं। सभी शिक्षक अपना शिक्षण और भाषण एस्टोनियन जबान में करते हैं' ( मास्को न्यूज, २६ मई,' ४७ )। इससे पता चलता है कि एस्टोनियन भाषा ने कितनी उन्नति की होगी जो उसमें ऊँची से ऊँची विज्ञान और साहित्य की शिक्षा दी जा सकती है।

जारशाही रूस में जार्जिया एक पिछड़ा हुआ उपनिवेश था। वहाँ की भाषा और संस्कृति पर बैन लगा रखा गया था। जार्जिया की भाषा में एक भी स्कूली किताब न छपी थी। समाजवादी क्रान्ति के बाद जार्जिया के लोगों ने सोवियत रूस के लेखकों और भाषा वैज्ञानिकों की मदद से बड़ी तेजी से उन्नति की। सोवियत जार्जिया के लेखकों ने स्कूली विद्यार्थियों के लिये ६५ मौलिक पुस्तकें लिखी हैं। लगभग इतनी ही पुस्तकें उन्होंने कालेजों में ऊँची शिक्षा के लिये लिखी हैं। ये सब किताबें जार्जियन भाषा में हैं। इनमें से कई किताबों का अनुवाद रूसी भाषा में में भी हुआ है।

जार्जिया से निरक्षरता को बिल्कुल दूर कर दिया गया है। यहाँ की आबाद लगभग ३५ लाख है। हर मर्द-औरत पढ़ा-लिखा है। ये लोग अपने यहाँ के लेखकों की रचनाओं से ही परिचित नहीं हैं, विदेश के लेखकों की प्रसिद्ध रचनाएँ भी पढ़ चुके हैं। इलिया दुबिस्की ने लिखा है—

'अंगूर के बागीचों या चरागाहों में भेड़ चराते हुए भूरे रंग के लड़के फेनीमूर कूपर या डिकिन्स की रचनाओं से उतने ही परिचित हैं जितने इंगलैंड या अमरीका के बच्चे।' ( मास्को न्यूज, १० फरवरी '४६ )।

जार्जिया के बच्चों ने यह सब साहित्य अपनी भाषा में पढ़ा है।

बर्दी कर्बाबायेव की तुर्कमीनिया में, जहाँ पहले संटी के साथ मक्तब में मुल्ला अरबी रटाता था, अब दो लाख विद्यार्थी अपनी भाषा में स्कूली शिक्षा पाते हैं। तुर्कमीनिया का तीन-चौथाई हिस्सा काराकूम का रेगिस्तान है। १६३६ में यहाँ की आबादी लगभग १२ लाख की थी। फिर भी यहाँ ७ ऊँचे शिक्षा-

केन्द्र हैं, ४० रिसर्च संस्थाएँ हैं, अपने कवि, नाटककार और उपन्यास लेखक हैं जिनमें बर्दी कर्बाबायेव जैसे स्तालिन प्राइज विजेता भी हैं। ( मॉस्को न्यूज़, १४ सितम्बर' ४८ )।

सोवियत संघ के उत्तरी इलाके में समोयद, लोपारी, नेनेत्स, सामी आदि जातियाँ रहती हैं। ज़ार-सरकार ने इन सब की एक राष्ट्र भाषा रूसी मान रक्खी थी। ये लोग किसी प्रदेश को अपना न कह सकते थे। छोटे-छोटे कबीलों में बँटे हुए वे जगह-जगह भटकते रहते थे। ये जातियाँ सबसे पिछड़ी हुई थीं जिनकी तरफ ज़ारशाही नीति उन्हें नेस्तनाबूद करने की ही थी।

चुकोत्सक इलाका उत्तरी ध्रुव के पास है। वेरिंग का जलडमरूमध्य उसे अलास्का से अलग करता है। यहाँ पर चुकची, एस्किमो और एवेंकी जबानों में शिक्षा देने वाले ५५ स्कूल हैं। इनके लिए किताबें और दूसरा स्कूली सामान हवाई जहाज से पहुँचाया जाता है।

सोवियत भाषा वैज्ञानिकों ने इन जातियों को लिपि ही नहीं दी बल्कि उनकी भाषा में पाठ्य पुस्तकें तैयार कराके और नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल भाषा को विकसित करके एक बहुत बड़ा सामाजिक काम पूरा किया है।

अलेग्जेन्दर दूबानोव ने बताया है कि इनकी लिपि तैयार करने में कैसी कठिनाई पड़ी। कुछ भाषाओं में अपनी विचित्र ध्वनियाँ थीं; कुछ बोलियों में एक ही शब्द तरह-तरह से बोला जाता था। अन्त में रूसी वर्णमाला के आधार पर उत्तरी इलाके की तमाम जबानों के लिये २६ अक्षरों की एक-सी वर्णमाला चालू की गई। ( सोवियत वीकली, २१ अगस्त'४७ )।

इससे भी कठिन समस्या घुमन्तू कबीलों को एक जगह रोककर पढ़ाने की थी। आमतौर से ये लोग रेंडियर लिये घूमा करते थे। सोवियत सरकार के बोर्डिङ्ग स्कूल खोले जहाँ रह कर विद्यार्थी शिक्षा जारी रख सकें। इसके अलावा ऐसे स्कूलों का भी इंतजाम किया गया जो कबीलों के साथ-साथ चलें और बच्चों को शिक्षा देते रहें। स्कूलों की तादाद धीरे-धीरे कम होती गई।

लेकिन १६४७ में कुर्याक जातीय प्रदेश में इस तरह के दो नये घुमन्तू

स्कूल खोले गये। इसका सबब यह था कि इस जाति के ९७ फीसदी लोग तो साक्षर हो चुके थे, लेकिन ३ फीसदी अब भी रेंडियरों के साथ घूमते रहते थे। वे निरक्षर थे। कुर्याक प्रदेश की सरकार ने तै किया कि १९४७ के क्रान्ति दिवस तक एक भी आदमी निरक्षर न रह जायगा। इसलिए उन ३ फीसदी निरक्षरों के लिये घुमन्तू स्कूलों का इन्तजाम किया गया। ( मॉस्को न्यूज, १५ अक्तूबर, '४७ )।

इन पिछड़ी हुई घुमन्तू जातियों में—जिनके लिए ज़ारशाही सिर्फ़ नेस्त-नाबूद होने का प्रोग्राम रख सकी थी—अब लेखक, कवि और भाषा वैज्ञानिक पैदा हो रहे हैं।

गलगाता और अयोक्ता नाम के दो एस्किमो लेखकों ने अपनी जाति के लिए एक प्राइमर लिखी है। (उप०)

चुकची जाति के तिनेतीगिन नाम के लेखक ने रेंडियर चराने वाले अपने जातिभाइयों में प्रचलित लोक-कथाओं का संग्रह किया है। (उ०)

नानाई जाति के प्रथम कवि, सोवियत कवि अकिम समार के कविता संग्रह की ३००० प्रतियाँ छापी गईं और इस छोटी-सी जाति के प्रायः हर घर में उसकी एक-एक प्रति खरीदी गई। ( सोवियत वीकली, २१ अगस्त' ४७ )

सोवियत सङ्घ की जातियाँ अपनी भाषा और संस्कृति की यह उन्नति इस-लिये कर सकी है कि उन्होंने इस उन्नति की शत्रु ज़ारशाही और पूँजीवाद को खत्म कर दिया था।

इनके सङ्घर्ष की अगुवाई करने वाली मजदूर वर्ग की महान् क्रान्तिपार्टी —लेनिन और स्तालिन की बोल्शेविक पार्टी—थी जिसने जातीय आत्म-निर्णय का झंडा ऊँचा किया था। इस पार्टी का नेतृत्व स्तालिन कर रहे थे जिन्होंने जाति और भाषा के मसले पर हर जगह डट कर राष्ट्रवादी गुमराहियों का मुकाबला किया।

सोवियत सङ्घ में जातियों की संस्कृति और उनकी भाषाओं का निर्बाध विकास दिखाता है कि सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था खत्म होने पर उन्नति का कितना बड़ा रास्ता छोटी से छोटी और पिछड़ी से पिछड़ी जाति के लिये भी

खुल जाता है ।

सोवियत भाषाओं का विकास दिखाता है कि समाजवादी व्यवस्था में आम जनता अपनी भाषा के जरिये जितनी उन्नति ३० साल में करती है, उतनी उन्नति वह सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था में ३०० साल में भी नहीं कर सकती ।

सोवियत सङ्घ की मिसाल बताती है कि समाजवाद के आधार पर जातियाँ जो एका कायम करती हैं, वह अटूट होता है । उस एके से उनकी उन्नति उस हालत से सौगुनी ज्यादा तेजी से होती है जब वे एक-दूसरे से लड़ती रहती थीं और इस तरह विदेशी साम्राज्यवादियों का हित साधती थीं ।

सोवियत जातियों की एकता दिखाती है कि किसी देश में बहुत-सी भाषाओं का होना कोई दुर्घटना नहीं है जिस पर शोक किया जाय ! समाजवादी व्यवस्था में बहुजातीय देश की भाषाएँ आजादी से फल-फूलकर एक-दूसरे के विकास में सहायक होती हैं ।

# हिन्दी का 'संस्कृतीकरण'

बहुत से लोगों का विचार है कि संस्कृत ने मृत भाषा का रूप इसलिये ले लिया कि पंडितों ने उसे व्याकरण के नियमों से जकड़ दिया था। परन्तु व्याकरण और भाषा की सजीवता में कोई ऐसा अन्तर्विरोध नहीं दिखाई देता कि संस्कृत की मृत्यु के लिए व्याकरण को दोषी ठहराया जाय। अगर आज की जीवित भाषाओं को लें तो देखेंगे कि वे व्याकरण से कम अनुशासित नहीं हैं और किसी हद तक तो उनके व्याकरण में ऐसी विशेषताएँ मौजूद हैं जो तर्क-बुद्धि को स्वीकार ही नहीं होती। कौन नहीं जानता कि अँग्रेजी-व्याकरण बारह साल पढ़ने के बाद भी भाषा में अशुद्धियाँ रह जाना एक साधारण बात है। फिर भी अँग्रेजी संसार की सबसे सजीव भाषाओं में से है। संस्कृत की अपेक्षा उसमें स्वच्छन्दता कहीं कम है। संस्कृत वाक्य रचना में आप शब्दों का हेर-फेर कर सकते हैं—'एतद् मम पुस्तकम्' को मम, पुस्तकम्, एतद् किसी भी शब्द से प्रारंभ करके लिख सकते हैं। लेकिन अँग्रेजी में 'दिस इज़ माई बुक' को 'इज़ दिस माई बुक' लिखकर देखिये कितना अंतर हो जाता है। और कहीं 'बुक माई इज़ दिस' लिख दीजिये, तब तो वाक्य का कचूमर ही निकल जायगा। छोटे बच्चे अँग्रेजी सीखते हुए अक्सर इस तरह की वाक्य रचना करते हैं। और बच्चे ही क्या, बालिग भी हिन्दी से अँगरेजी शुरू करते हैं, तो आरंभ में यही गलती करते हैं। अगर कोई समझे कि 'रामः रामौ रामाः' की रटंत से अँगरेजी ही अच्छी तो उसे हिन्दी के 'राम से, राम में, राम पर' आदि रूप याद रखने चाहिये और बिहारी भाइयों की 'ने' सम्बन्धी कठिनाई को न भूल जाना चाहिये।

इसका यह मतलब नहीं है कि संस्कृत हिन्दी और अँग्रेजी दोनों से सरल है और इसलिए उसे राष्ट्रभाषा बना देना चाहिये। ऊपर की बातें कहने का उद्देश्य यह है कि संस्कृत के मृत भाषा बनने का कारण व्याकरण नहीं कुछ और है।

दरअसल संकृत कुछ गिने-चुने शिक्षितों की भाषा रह गई थी और लोक-प्रचलित भाषा से इतनी दूर चली गई थी कि आम जनता के लिए वह दुरूह हो गयी थी। उसका व्याकरण कितना भी सरल किया जाता, वह 'जीवित' भाषा का पद न पा सकती थी। अक्सर अनेक ग्राम भाषाओं का व्याकरण संस्कृत से कम कठिन नहीं होता, बल्कि उससे भी अधिक गहन और विस्तृत होता है, फिर भी ग्रामीण बच्चे बिना सूत्र घोखे हुए ही व्याकरण के अनुसार नित्य वाक्य रचना करते रहते है। फ्रांस और स्पेन के कुछ भागों में 'बास्क' नाम की ऐसी ही बोली आज भी प्रचलित है। उसका व्याकरण लैटिन से भी दुरूह बताया जाता है लेकिन लैटिन संस्कृत के पद को प्राप्त हुई और बास्क अब भी जीवित है। बास्क के लिए एक कहानी प्रचलित है कि खुदा ने शैतान पर खफा होकर उसे बास्क व्याकरण याद करने के लिए भेजा। सात साल तक परिश्रम करने के बाद भी शैतान कोरा का कोरा ही वापस लौटा।

व्याकरण की कठिनाई नयी भाषा सीखने वालों को महसूस होती है। जो उसे नित्य प्रति बोलते हैं, उनके लिए व्याकरण 'सीखने' का प्रश्न नहीं उठता।

इसी प्रकार कोश देखकर भी कोई हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी में बातें नहीं करता। काफी दिन तक कोश-निर्माण में परिश्रम करने के बाद अधिकांश लोग यह समझ गये हैं कि हिन्दी उर्दू-हिन्दुस्तानी की समस्या का चाहे जो हल हो, वह कम से कम कोश-निर्माण से हल नहीं हो सकती।

लेकिन कोशकार भला यह कब मानने वाले हैं! उनके लिये अमर-कोश पहले है, कालिदास बाद को। उनके लिये भाषा के बोलने वाले बाद को हैं, उनकी कोश रचना पहले है। काजी जी दुबले क्यों शहर के अन्देशे से। जनता क्या बोलेगी, वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, राजनीतिक नेता, आदि आदि किन शब्दों का प्रयोग करेंगे, इस अन्देशे से दुबले कोशकार मोटे-मोटे कोशों का निर्माण करने में लगे हैं। कोश-रचना में ऐसे शब्द नहीं रखे जाते जो व्यवहार में आते हैं बल्कि ऐसे शब्द गढ़ कर रखे जाते हैं जो व्यवहार में लाये जायँगे। अगर 'जनता' की समझ और व्यवहार का जिक्र कीजिये तो जनता को मूर्ख और अशिक्षित कह कर भाषा के क्षेत्र से उसे निकाल बाहर किया जाता है

और कोशकार दत्तचित्त फिर अपने शब्द-निर्माण में लग जाते हैं।

छोटे से बड़े तक अनेक पंडित-महापंडित कई वर्षों से इस कार्य में लगे हैं। हिन्दी में लगे हैं और उर्दू में लगे हैं और उनके साथ बँगला जैसी अन्य भाषाओं में भी लगे हैं। इस हिसाब से हम इसे भारतीय साहित्य का कोश युग कह सकते हैं।

कोशकार अपने निर्दोष कार्य में लगे रहते और उनके एकान्त चिन्तन में बाधा देने की कोई जरूरत न थी अगर उनकी कोश-रचना आम जनता पर लादी जाने को न होती। जब उनके इस कार्य को सरकारी या अर्द्ध-सरकारी संरक्षण मिल जाता है, तब यह खतरा पैदा हो जाता है कि कचहरी-डाकखाने में हमें ऐसे कागज-पत्र पढ़ने को मिलेंगे जिन्हें समझने के लिए भारी-भरकम कोश साथ लेकर चलना पड़ेगा।

कल्पना कीजिये—एक 'अपसर्जित' व्यक्ति अपने 'अपसर्जक' पर अभियोग लगाता है और 'अपसर्जक' का मित्र 'अपचय' करता है। आप अदालत में 'प्रत्याख्यान' करते हैं। वकील 'अत्यय की अभ्युक्ति' करता है। इतने ही में एक 'अपनयन' का मुकदमा और पेश होता है लेकिन मुकदमे का 'लंबन' हो जाता है या 'विकृष्ट' हो जाता है। आपका 'अभिकर्त्ता' 'शपथ-पत्रक' देता है जिससे फिर 'व्यक्त विकर्षण' होता है। इसके बाद 'पुनर्वाद के अत्यय' की नौबत आती है और तब 'अपचारक' से कहा जाता है कि 'इस वाद का व्यय वाद के परिणाम का अनुसरण करेगा।'

यदि आप हिन्दी-प्रेमी हैं, तो इन शब्दों पर कुछ देर तक विचार कीजिए। यदि बिना अँग्रेजी और हिन्दी पर्यायवाची शब्दों के आप इनका मतलब समझ लेंगे तो 'वीर सराहौं तोहिं' हमें कहना पड़ेगा। ऊपर के शब्द उस कोश से लिये गये हैं जिसे उत्तर प्रदेश की सरकार और टेहरी राज्य की सहायता से नागरी-प्रचारिणी सभा तैयार कर रही है। बानगी के तौर पर कुछ शब्द २ जून १९४८ की अमृत बाजार पत्रिका में छपे हैं। यदि नागरी प्रचारिणी सभा ऐसी ही हिन्दी का प्रचार करना चाहती है तो उसे लोगों को धोखे में न डाल कर अपना नाम बदल डालना चाहिये।

इसमें संशय है कि ये शब्द संस्कृत में भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होते थे जो कोशकारों को अँग्रेजी के आधार पर अभीष्ट हैं। यह संस्कृत और हिन्दी दोनों के साथ अन्याय है। इस तरह की भाषा को यू० पी० सरकार, टेहरी राज्य और नागरी प्रचारिणी सभा तीनों मिलकर और उन जैसे और दस-पाँच नहीं चला सकते क्योंकि ये शब्द जनता के गले से उतरेंगे नहीं। कोशकार भले ही आज जनता को अशिक्षित कह कर उसकी बोलचाल की भाषा की उपेक्षा करें, लेकिन यह कोश भाषा आखिर बोलवाना तो उसी जनता से है!

हिन्दी के इस 'संस्कृतीकरण' से हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना तो दूर, उसका प्रान्तीय भाषा के रूप में भी लोकप्रिय रहना कठिन हो जायगा। यह हिन्दी की सेवा करना नहीं, उसका गला घोंटना है। हर हिन्दी-प्रेमी को इसका विरोध करना चाहिये।

यह बात नहीं है कि संस्कृत से शब्द लेना एकदम बन्द कर देना चाहिये। लेकिन शब्द लेना एक बात है, भाषा को संस्कृतमय बना देना दूसरी बात है। इन कोशकारों की नज़र में हिन्दी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उसमें जो कुछ है और होना चाहिये, वह केवल संस्कृत का! इनके लिये मध्यकाल से लेकर अब तक केवल सांस्कृतिक पतन ही होता आया है और जितनी जल्दी सतयुग की तरफ़ लौट चलें, उतना ही अच्छा। यह हठ धर्म कुछ नया नहीं है। जब गो० तुलसीदास ने राम चरितमानस रचा था और पंडितगण उनकी रचना को 'भदेस' कह कर हँसते थे, तब से वह क्रम चला आ रहा है। योरप में इस प्रकार लैटिन के आगे 'वल्गर टंग' का मज़ाक उड़ाया जाता था लेकिन वही भदेस भाषाएँ संसार की सब से समृद्ध भाषाएँ बन गयीं। वह पद हिन्दी भी प्राप्त करेगी लेकिन कोश-रचना और संस्कृतीकरण के रास्ते पर चल कर नहीं।

ऊपर की कोश-निर्मित शब्दावली सरल शब्दों में लिखी जा सकती है। लेकिन कोशप्रेमियों का कहना है कि सरल शब्दावली पारिभाषिक (टेकनिकल) कहाँ हुई! इस तरह हिन्दी को इतना पारिभाषिक बनाया जायगा कि वह 'भाषा' न रहकर केवल 'परिभाषा' रह जायगी!

हैदराबाद के स्वनामधन्य निजाम सहाब उर्दू के लिये ऐसे ही कोश बनवा

चुके हैं। उनसे उर्दू कितनी लोक-प्रिय हुई है, इस बात पर हिन्दी प्रेमियों को विचार करना चाहिये।

'सारे देश में समझी जाय'—इस बहाने हर भाषा के कठमुल्ले अपनी भाषा की जान लेने पर तुले हुए हैं।

पच्छिमी बंगाल की अत्यन्त प्रगतिशील सरकार के 'स्वराष्ट्र विभाग' ने सरकारी कामों के लिए 'व्यवहार्य परिभाषा' का पहला भाग प्रकाशित किया है। सरकार की तरफ से छपी हुई चीज है, इसलिये उसमें नुक्ताचीनी की गुञ्जाइस भी कम है। आप 'परिभाषा' का जो मतलब लगाते हों, बंग सरकार ने उसका अर्थ 'शब्दावली' किया हैं, यह याद रखें।

इसके रचियताओं में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का प्रसिद्ध नाम भी है। भूमिका में बताया गया है कि 'हिसाब' शब्द प्रचलित होते हुए भी उसकी जगह 'गणन' और 'गणन' से 'गाणनिक' और 'महागाणनिक' शब्द रचे गये हैं! रवीन्द्रनाथ के बंगाल में यह ललित पदावली रची जा रही है। इसी प्रकार 'अदालत' शब्द काफी सम्मानपूर्ण नहीं 'Not dignified enough' समझा गया है। इसलिये उसकी जगह 'धर्माधिकरण' सजाया गया है, जिसका नाम सुनते ही अपराधियों के छक्के छूट जायँ।

भूमिका में, भाषा-विज्ञान की यह अपूर्व बात भी कही गयी है—'Bengali, Hindi, Marathi and the rest now depend upon Sanskrit—they are not free to utilise their own basic elements' यानी बँगला, हिन्दी, मराठी वगैरह को खुद अपने भीतर से शब्द-निर्माण करने की छूट नहीं है। उन्हें संस्कृत का ही मुँह जोहना पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में भाषा-विज्ञान ने कितनी प्रगति की है, यह ऊपर के इस एक वाक्य से प्रकट है, जिस पर डा० सुनीति कुमार चटर्जी के हस्ताक्षर हैं।

नागरी प्रचारिणी के कोशकारों की सेवा में हम इस बंगीय 'परिभाषा' से कुछ शब्द पेश करते हैं। आप लोग अलग-अलग न जाने क्यों परिश्रम कर रहे हैं; हिन्दी-बँगला जब दोनों संस्कृत से लेती हैं, तब उनमें भेद कहाँ रहा? आप्टे के शब्द कोष पर हिन्दी, बँगला लिख कर क्यों नहीं चालू कर देते?

बानगी देखिये—

न्यासपाल, महा-व्यावहारिक [ संज्ञा है विशेषण न समझ लीजियेगा ! ], स्थपति, भाचित्रकार, कूपी धावक [ यह बोतल धोने वाला है ! ], आत्ययिक, चक्रचर नियामक, दोहवर्धन आधिकारिक [ डेरी से सम्बन्ध है ], दुष्कृति विमर्श विभाग, उप-आयुक्तक, उप-प्रादेशिक परिवहण महाध्यक्ष, उप-आराद्याध्यक्ष, एध-आधिकर्ता, ताड़ितउपदेष्टा, धूमोत्पात परिदर्शक, साधित्र रक्षक, लेख्य-प्रापक, राजस्वकरणिक, विक्रयिक, विशिष्ट मुद्रितक-उपदेष्टा, परियाण-करणिक अवर, अन्तः शुल्क कृत्यक, शिल्प व संमरण मंत्रक, राष्ट्रभृत्यानियोगाधिकार, कन्या प्रणिधि, तूर्ण पत्र [ एक्सप्रेस चिट्ठी ] इत्यादि ।

इस शब्दावली के निर्माता जानते हैं कि उसे बंगाल में कोई न समझेगा। इसलिये नौजवानों को आदेश दिया गया है कि जितना समय अँग्रेजी सीखने में लगाते हो, उसका चौथाई भी मातृभाषा [ यानी संस्कृत ] सीखने में लगाओ तो ये अपरिचित शब्द उतने अपरिचित न रह जायँगे !

इन कोशकारों के लिये सब से अच्छी सजा यही है कि इनसे इन्हीं के बनाये हुए कोश याद कराये जायँ। जहाँ भूलें वहाँ फिर याद करने की ताकीद कर दी जाय। जब हिन्दी, बङ्गला आदि के कोशकार अपने-अपने कोश या एक सम्मिलित महाकोश याद कर डालें, तभी वह कोश जनता तक पहुँचे, उसके पहले नहीं।

हिन्दी का संस्कृतीकरण पारिभाषिक शब्दों को लेकर ही नहीं है। साधारण साहित्य में, दैनिक और मासिक पत्रों आदि में भी तत्सम शब्दों को इसलिये भरा जाता है कि इससे हिन्दी सुबोध हो जायगी—खुद हिन्दी बोलने वालों के लिये नहीं बल्कि दूसरी भाषाओं के बोलने वालों के लिये ! मिसाल के लिये शायद बङ्गाल के लोग संस्कृत-बहुल हिन्दी को बोल-चाल की खिचड़ी भाषा से ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। देखना चाहिये कि बोल-चाल की बङ्गला में तत्सम शब्दों का अनुपात कैसा रहता है। इस पर डा० सुनीति कुमार चटर्जी से ज्यादा कौन अधिकारी विद्वान् राय दे सकता है ? बङ्गला भाषा की उत्पत्ति और विकास पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के पहले भाग में उन्होंने यह मत

प्रकट किया है—

'In Modern Bengali, the Colloquial has a surprisingly small percentage of Sanskrit words' ('The Origin and Development' of the Bengali Language, Vol. 1, p 221 ) यानी बोलचाल की बँगला में संस्कृत शब्दों की तादाद असाधारण रूप से कम है।

हिन्दी पाठक इस वाक्य पर कुछ देर तक विचार करें। जिन अन्य भाषा-भाषियों की दुहाई देकर हिन्दी के हिन्दीपन को बिगाड़ कर उसे संस्कृतमयी बनाया जा रहा है, वे स्वयं बङ्गाल जैसे प्रान्त में भी संस्कृत शब्दों का कम-से-कम प्रयोग करते हैं।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या बोलचाल के भाषा के नियमों को तोड़ कर हल नहीं की जा सकती। बोलचाल की भाषा में अँग्रेजी और फारसी के शब्द भी आते हैं और संस्कृत से भी आते हैं। लेकिन आर्य संस्कृति के जोश में शुद्धतावादी केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों को लेने पर तुले हुए हैं। वे यह भूल जाते हैं कि स्वयं संस्कृत दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर समृद्ध होती रही थी। इस बात को सुनीति बाबू भी मानते हैं। उपर्युक्त पुस्तक में लिखा है—'The Aryan speech has been borrowing words from the Dravidian ever since the former came to India' Ib. p 178. अर्थात् 'आर्यों की भाषा हिन्दुस्तान में आने के बाद से ही द्राविड़ भाषाओं से बराबर शब्द उधार लेती रही है।' लेकिन 'देववाणी' भले शब्द लेती रही हो, देशवाणी के कलजुगी समर्थक जोरों से हृदय-कपाट बन्द किये हैं कि कहीं विदेशी हवा लगने से उनका देवत्य खंडित न हो जाय।

अगर कोई कहे कि 'इनकम टैक्स इन्स्पेक्टर, वारंढ, करेंसी, गार्जियन रिपोर्ट, रिसीवर, समन, सबजज आदि अँग्रेजी के प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर लेना चाहिये और उनकी जगह नये शब्द न गढ़ने चाहिए तो यह राष्ट्र-भाषा के प्रति द्रोह कहा जायगा। लेकिन इन्हीं शब्दों को सुनीति बाबू ने अपनी पुस्तक में 'Typical naturalised English words' (पृ० ६४५-४८) कहा है। ये शब्द बँगला के अपने शब्द मान लिये गये हैं और यही नहीं,

उनके साथ एग्जिबीशन, वेटिंग-रूम, कौंसेल, गिरीमेंट ( एग्रीमेंट ), नोटिस बर्जाइस ( बुर्जुआ ), मरगिज, रजिस्ट्री, लिवर, हाफ साइड आदि शब्द भी बँगला की स्वीकृति सम्पत्ति माने गये हैं। लेकिन बँगला की व्यवहार्य परिभाषा' उठाकर देखिये तो इन्हीं शब्दों या इन जैसों के लदले डा० सुनीति कुमार और उनके सहयोगी नये-नये भारी-भरकम शब्द गढ़ते दिखाई देंगे और खुद बंगालियों के समझ में न आने पर उनसे कहेंगे कि अपनी मातृ-भाषा सीखने में कुछ समय लगाओ।

इसी तरह अपनी पुस्तक के पृ० २१७ ( खंड १ ) पर उन्होंने बैलेट, सेक्रेटरी, प्रिंटर, गजट, टाइमटेबल, रोमांस, रोमांटिक, क्लासिक, ट्रैजिक, कॉमिक, आर्ट, फ्यूचरिज्म, साइंस, प्रोटोप्लाज्म, प्लीस्टोसीन, लॉ, प्लांट, केमिस्ट्री, फिज़िक्स आदि शब्दों के लिये लिखा है कि वे 'are being bodily adopted at tbe Present day,' यानी वे जैसे-के-तैसे बँगला में अवतार ले रहे हैं। लेकिन मजाल क्या है कि सुनीति बाबू अब इनके लिये संस्कृत की किसी धातु से नया शब्द न पढ़ लें!

अपनी पुस्तक के पृ० २१२ ( खंड १ ) पर उन्होंने यह भी लिखा था कि बँगला के मुसलमान लेखक ज्यादा संख्या में आगे आ रहे हैं, इसलिए, फारसी अरबी के शब्दों का बँगला में आना बिलकुल स्वाभाविक होगा ( will be in the nature of things') लेकिन 'व्यवहार्य परिभाषा में, इन स्वाभाविक रूप से आये हुये शब्दों को ढूँढ़ने के लिये अब आपको खुर्दबीन की जरूरत पड़ेगी।

जिस तरह पूँजीवादी नेता चुनाव में किये हुए वादों को मन्त्री बनने पर भूल जाते हैं, वैसे ही 'रिवाइवलिज्म' के जोश में ( आर्य संस्कृति के मोह में ) सुनीति बाबू जैसे भाषा वैज्ञानिक खुद अपने बनाये हुए सिद्धान्तों को भूल गये हैं। यह पूँजीवादी संस्कृति के ह्रास का चिन्ह है, उसके उत्थान का नहीं। यह रास्ता बँगला और हिन्दी की उन्नति का नहीं, उनकी अवनति का है!

अगस्त १९४८

# साहित्य के प्रति सिद्धान्तहीन और अराजनीतिक दृष्टिकोण

अपने इस प्रसिद्ध भाषण में ज़्दानोव ने सोवियत पत्रिका लेनिनग्राद और 'ज़्वेज़्दा' के साथ-साथ अनेक सोवियत साहित्यकारों की कुछ खामियाँ भी बताई हैं जो मार्क्सवाद के विद्यार्थियों के लिये शिक्षाप्रद हैं।

ज़्दानोव ने अपने इस भाषण में कई बार यह माँग की है कि सोवियत साहित्य कला की दृष्टि से ऊँचा हो ; वह सोवियत जनता के कला-प्रेम को और ऊँचे स्तर पर ले जाय। इसलिये यह सवाल नहीं उठता कि कला के दृष्टि से नीचे दर्जे के साहित्य को मार्क्सवाद के अनुसार श्रेष्ठ माना जाय या नहीं। मार्क्सवाद बिना किसी शक-सुबह के साहित्य में ऊँचे दर्जे के कलात्मक सौंदर्य की माँग करता है।

सवाल दूसरा है। वह यह कि राजनीतिक और सिद्धान्तहीन साहित्य कलात्मक सौंदर्य के नाम पर श्रेष्ठ माना जा सकता है या नहीं। ज़्दानोव ने इस बात का बहुत स्पष्ट जवाब दिया है। उनके अनुसार ऐसे साहित्य के श्रेष्ठ होने की बात तो दूर, उसे सोवियत संघ में टिकने को दो बीता जगह भी नहीं दी जा सकती।

ज़्दानोव ने लेनिनवाद की इस मान्यता पर फिर से तीव्र प्रकाश डाला है कि साहित्य और कला 'पार्टीज़न' हैं, वे वर्गों से सम्बद्ध हैं और वर्गों के संघर्ष में उनका तटस्थ रहना असम्भव है। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने सोवियत लेखकों से माँग की है कि वे पूँजीवाद आदर्शों का खण्डन करें और सामयिक यथार्थ के चित्र देकर समाजवाद की प्रगति में सहायक हों।

ज़्दानोव ने दिखाया है कि 'ज़्वेज़्दा' में जिस तरह की रचनाएँ छपने लगी थीं, वे सोवियत जनता के लिये अहितकर थीं। सबसे पहले जौश्चेंको की रचना

'बन्दर की साहसिक यात्रा' को ज्दानोव ने लिया है। इस रचनाकार के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—'जौश्चेंको को सोवियत जनता की मेहनत, उनके परिश्रम और वीरता से, उनके ऊँचे सामाजिक और नैतिक गुणों से कोई दिलचस्पी नहीं है। उसके यहाँ यह विषय हमेशा गायब रहता है। इस टुटपुँजिये और गन्दगी-पसन्द लेखक ने अपना पक्का विषय यह बना लिया है कि जिन्दगी की तुच्छ और नीची सतह को खोदे।'

लड़ाई के ज़माने में जौश्चेंको लेनिनग्राद छोड़कर आल्मा आटा चला गया था। लड़ाई के दौरान में उसने अपनी एक रचना 'सूर्योदय से पहले' में सोवियत जनता को निर्लज्ज पशुओं जैसा चित्रित किया था। इस पर सोवियत पार्टी के सैद्धान्तिक मुखपत्र 'बोल्शेविक' में उसकी कड़ी आलोचना प्रकाशित हुई थी।

लड़ाई खत्म होने के बाद अपना वही रवैया जारी रखते हुए जौश्चेंको ने सोवियत समाज-व्यवस्था और सोवियत जनता पर कीचड़ उछाला और अपने इस 'करतब को हास्यरस कहकर पेश किया। उसकी कहानी का नायक बन्दर सोवियत समाज का आलोचक बन कर आता है और उस पर, सोवियत समाज पर, रायजनी करता है। जौश्चेंको बन्दर के मुख से यह गन्दी, जहरीली और सोवियत विरोधी बात कहलाना चाहता था कि आजादी से रहने के बदले अजायबघर में रहना अच्छा है और सोवियत जनता के बीच में साँस लेने से पिंजड़े में साँस लेना बेहतर है। यह कहलाने के लिये जरूरी था कि जौश्चेंको सोवियत जनता की जानबूझकर तोड़ी-मरोड़ी, भोंडी और भद्दी तस्वीर पेश करे।'

नतीजा यह कि 'ज़्वेज़्दा' जैसी पत्रिका—जिसका काम सोवियत नौजवानों को शिक्षित करना है—ऐसी रचनाओं को छापकर अपना काम पूरा नहीं कर सकी।

ज्दानोव ने बताया है कि जौश्चेंको की ये रचनाएँ आकस्मिक नहीं हैं। सन् '२० से ही उसकी जो सिद्धान्तहीन और अराजनीतिक विचारधारा रही है, ये उसी का फल हैं। जौश्चेंको पहले 'सेरापियन ग्रुप' का सदस्य था और उसने अपने विचार यों प्रकट किये थे—'पार्टी वालों के विचार से मैं एक

सिद्धान्तहीन आदमी हूँ। बहुत ठीक। मैं खुद अपने बारे में बयान दूँगा। मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ, सामाजिक क्रान्तकारी नहीं हूँ, न साहपरस्त हूँ। मैं सिर्फ एक रूसी हूँ। इसके अलावा राजनीतिक दृष्टि से अनैतिक हूँ।

'मैं ईमान से कहता हूँ कि आज दिन तक मुझे नहीं मालूम [ कि मैं राजनीतिक दृष्टि से क्या हूँ ]। लेकिन शुचकोव को लीजिये। शुचकोव किस पार्टी में है? शैतान ही जाने किस वह पार्टी में है। मैं जानता हूँ, वह बोल्शेविक नहीं है। फिर सामाजिक क्रान्तिकारी है या कैडेट है, यह भी मैं नहीं जानता और न जानना चाहता हूँ।'

ज्दानोव ने ये उद्धरण देकर कहा है कि पचीस साल में जौश्चेंको बदला नहीं है बल्कि इसी सिद्धान्तहीनता का प्रचार करता जाता है। लेव लुन्त्स नामक एक दूसरे 'सेरापियन गुट्ट' के सदस्य से भी ज्दानोव ने एक उद्धरण दिया है जिसमें वैसे ही सिद्धान्तहीन साहित्य का प्रचार किया गया है। लुन्स का कहना था—'हमें उपयोगितावाद नहीं चाहिये। हम प्रचार के लिए नहीं लिखते। कला जीवन के समान वास्तविक है और जीवन के समान ही वह निरुद्देश्य और निरर्थक है। उसका अस्तित्व इसीलिये है कि उसका अनस्तित्व संभव नहीं है।'

इस पर ज्दानोव ने टिप्पणी की है—

'सेरापियन गुट्ट के सदस्य कला के लिये यह भूमिका निश्चित करते हैं! वे कला से उसकी सैद्धान्तिक विषय-वस्तु ( ideological content ), उसका सामाजिक महत्व, छीन लेते हैं। वे कला के सैद्धान्तिक छूछेपन का नारा बुलन्द करते हैं। 'कला कला के लिये' का निरर्थक और निरुद्देश्य कला का डंका पीटते हैं। सचमुच, वह अराजनीतिकता, टुटपुँजियापन और गन्दगी का प्रचार है।'

ज्दानोव के वाक्यों से इस सवाल का स्पष्ट मार्क्सवादी जवाब मिल जाता है कि विषय-वस्तु में सिद्धान्तहीन होने पर क्या कोई साहित्यिक कृति प्रगतिशील हो सकती है। जाहिर है कि नहीं हो सकती।

जौश्चेंको की बात खत्म करते हुए ज्दानोव ने लिखा है कि—'यह हमारा काम नहीं है कि जौश्चेंको की इच्छाओं के अनुकूल अपनी जीवन प्रणाली और

समाज-व्यवस्था को फिर से बनायें। यह काम जौश्चेंको का है कि वह अपने को सुधारे। लेकिन अगर वह सुधरना नहीं चाहता तो वह सोवियत साहित्य से निकल जाय। सोवियत साहित्य में सड़ी-गली छूँछी, सिद्धांतहीन और गन्दी रचनाओं के लिये जगह नहीं है।'

मार्क्सवाद का तकाज़ा है कि छूँछे और सिद्धांतहीन साहित्य के हिमायतियों से ऐसी ही भाषा में बात की जाय। आगे चलकर ज्दानोव ने इस बात को साफ़ कर दिया है कि इस तरह के मामलों में क्यों मेल-मुलाहज़ा न बरतना चाहिये।

जौश्चेंको के बाद ज्दानोव ने अन्ना अख़्मातोवा की उन रचनाओं को लिया है जो लेनिनग्राद के पत्रों में उद्धृत की जाती रही हैं। ज्दानोव ने अख़्मातोवा की रचनाओं को उद्धृत करना उस दर्जे की गलती बताई है जिस दर्जे की गलती पिछले ज़माने के क्रांति-विमुख और प्रतिक्रियावादी लेखकों की रचनाएँ उद्धृत करना होता।

१९०५ की रूसी क्रांति के बाद बहुत-से बुद्धिजीवी क्रांति से विमुख होकर अश्लील साहित्य और रहस्यवाद के उपासक बन गये थे। ज्दानोव ने उनका हुलिया बयान करते हुए कहा कि क्रांति के खेमे से भाग कर प्रतिक्रियावादी दल में शामिल होने वाले ये लेखक 'उन ऊँचे आदर्शों की टोपी उतारने लगे जिनके लिये रूसी समाज का आगे बढ़ा हुआ और सबसे अच्छा हिस्सा लड़ रहा था। उस समय प्रतीकवादी, मूर्तिवादी (इमेजिस्ट), तरह-तरह के डिकेडेंट सामने आये। ये लोग जनता से इनकार करते थे ; 'कला-कला के लिये' की हाँक लगाते थे ; साहित्य में सैद्धान्तिक छूँछेपन का प्रचार करते थे। वे विषय-वस्तु से हीन सुन्दर रूप के पीछे अपने सैद्धान्तिक और नैतिक पतन को छिपाते थे।'

कहना न होगा कि इस 'कौम' के लोग आजकल हिन्दी में भी बहुतायत से पाये जाते हैं। युद्ध काल में और युद्ध के बाद जैसे-जैसे जनवादी संघर्ष तीखा बनता गया है, वैसे-वैसे अनेक लेखकों के पैरों में भी कँपकँपी बढ़ने लगी है। कई महान् 'कलाकारों' को हमने जनता का खेमा छोड़कर प्रतिक्रियावादियों के दल में शामिल होते देखा है। उनकी सीधी पहचान यह है कि वे जनवादी

भी छपती थीं जो पाठकों में उत्साह, देशप्रेम और आत्मविश्वास की भावना जगाती थीं। इस तरह दो विरोधी प्रकार की रचनाओं को बराबर जगह देने से 'ज्वेज्दा' एक निर्देशहीन पत्रिका बन गई जो नौजवानों को अनैतिक बनाने में दुश्मनों की सहायता करने लगी।

यहाँ पर ज्दानोव ने मार्क्सवादी साहित्यिक पत्रिका का कर्तव्य बताया है कि वह निर्देशयुक्त हो या निर्देशहीन। अगर वह निर्देशहीन ('a journal without Direction') बनती है तो इससे जनवादी ताकतों के दुश्मनों का ही भला होता है।

निर्देशहीन सम्पादन और निरुद्देश्य साहित्य-रचना ऐसी बातें हैं जो पूँजीवादी असर के बिना संभव नहीं है। ज्दानोव ने बताया है कि लेनिनग्राद के लेखक 'पच्छिम के मौजूदा पतित पूँजीवादी साहित्य पर जान देने लगे थे।'

कौमिनफार्म की पहली बैठक में सोवियत पार्टी की रिपोर्ट पेश करते हुए मालेंकोव ने इस पूँजीवादी असर पर विस्तार से प्रकाश डाला था और बताया था कि पूँजीवादी ताकतें किस तरह बुद्धिजीवियों में अपना असर कायम करके खुफियागीरी के लिये जमीन तैयार करती है। जिन देशों में पूँजीवादी कायम है, उनके मार्क्सवादी लेखकों में तो सौगुनी चौकसी दरकार है क्योंकि उनके चारों तरफ के वातावरण में पूँजीवादी प्रचार छाया रहता है। ऐसे देशों के लेखकों के लिये सोवियत लेखकों का अनुभव मार्क्सवाद के लिये सोवियत साहित्य में संघर्ष का इतिहास बहुत बड़ा महत्व रखता है। वह उन्हें पूँजीवादी गुमराहियों से बचने में सहायता दे सकता है।

ज्दानोव ने एक दूसरी खामी यह बताई है कि कुछ सोवियत लेखक सामयिक विषयों से हट कर ऐतिहासिक विषयों की तरफ एकांगी ढङ्ग से झुक पड़े थे। साथ ही मनबहलाव की छूँछी चीजें भी वे लिखने लगे थे। इसके लिये कुछ लोगों ने यह दलील दी थी कि अब वक्त आ गया है कि हम जनता को छूँछा, मनबहलाव का साहित्य दें। अब रचनाओं की सैद्धान्तिक विषय-वस्तु की तरफ ध्यान देना जरूरी नहीं है।

ज्दानोव ने इस दलील का जोरों से खंडन किया है और माँग की है कि

सोवियत लेखक युद्ध काल के अनुभव और उसके बाद के पुनर्निर्माण पर लिखें।

'लेनिनग्राद' पत्रिका की दूसरी गलतियों का उल्लेख करते हुए ज्दानोव ने पुश्किन की प्रसिद्ध रचना 'यूजेनी ओनेगिन' की एक पैरोडी का जिक्र किया है। खाजिन की इस व्यंग्य-कविता का मतलब यह है कि वह मौजूदा लेनिनग्राद की पुश्किन के सेंट पीटर्सबर्ग से तुलना करने की कोशिश करता है और यह दिखाना चाहता है कि हमारा युग ओनेगिन के युग से बदतर है।

इसी तरह रूस के महान् कवि नेक्रासोव की भी एक पैरोडी छपी थी जो उसकी स्मृति के लिये अपमानजनक थी।

इस तरह की रचनाओं का खोखलापन और सोवियत विरोधी रुख दिखाने के बाद ज्दानोव ने पूछा है कि लेनिनग्राद के निवासी जो वीरतापूर्वक अपने ध्वस्त नगर का फिर से निर्माण कर रहे हैं, कब तक इस निर्माण की कहानी सुनने की बाट जोहते रहेंगे। या लेनिनग्राद की वीर नारियाँ जिन्होंने जर्मनी से अपने नगर की रक्षा की और अब उसके पुनर्निर्माण का भार उठा रही हैं—अख़्मातोवा की रचनाओं से क्या प्रेरणा पायेंगी।

इस तरह ज्दानोव ने साहित्य को सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से जोड़ा है और साहित्यकारों से माँग की है कि वे इन्हें पूरा करने में अपनी रचनाओं से मदद करें।

सोवियत लेखकों से इस तरह की भूलें कैसे संभव हुईं, इस सवाल का साफ जवाब ज्दानोव ने यह दिया है—'इन गलतियों और खामियों की जड़ यह है कि इन पत्रिकाओं के सम्पादक, जो सोवियत साहित्य में सक्रिय भूमिका अदा करते हैं और लेनिनग्राद में सैद्धांतिक मोर्चे के नेता भी हैं, साहित्य के बारे में लेनिनवाद की कुछ बुनियादी मान्यताओं को भूल गये हैं।'

इन मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए ज़्दानोव ने सबसे पहले राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध को लिया है।

'बहुत से लेखक, जिनमें वे भी शामिल हैं जो जिम्मेदार सम्पादकों की हैसियत से काम करते हैं या लेखक सङ्घ में महत्वपूर्ण जगहों पर हैं, यह

समझते हैं कि राजनीति तो सरकार या केन्द्रीय समिति की चीज है। जहाँ तक लेखकों का सम्बन्ध है, राजनीति में वक्त लगाना उनका काम नहीं है। अगर आदमी अच्छा लिखता है, कलात्मक और सुन्दर ढङ्ग से लिखता है तो उसकी रचना को चालू कर देना चाहिये; भले ही उसमें ऐसे सड़े-गले टुकड़े हों जो नौजवानों के मन में जहर घोलें और उनका दृष्टिकोण भ्रष्ट करें। हम माँग करते हैं कि हमारे साथी—वे जो साहित्य क्षेत्र में नेतृत्व करते हैं और वे जो लिखते हैं,—उस चीज से अपना रास्ता पहचानें जिसके बिना सोवियत-व्यवस्था जिन्दा नहीं रह सकती, यानी राजनीति से। तभी हमारे नौजवान राम भरोसे न छोड़े जाकर सिद्धान्त-हीनता में न पनपेंगे, बल्कि सशक्त और क्रान्ति-कारी भावना में बढ़ेंगे।'

ज्दानोव ने उन्नीसवीं सदी के जनवादी क्रान्तिकारी रूसी लेखकों का हवाला देते हुए बताया है कि उनमें किसी ने भी 'शुद्धकला' या 'कला कला के लिये' का समर्थन नहीं किया। लेनिनवाद ने इस क्रान्तिकारी परम्परा को अपने में समेट लिया है। इस परम्परा के अनुसार कला का रूप यह होना चाहिये—'एक लड़ाकू कला, जो जनता के श्रेष्ठ आदर्शों के लिये संघर्ष करती हो—कला और साहित्य के सम्बन्ध में रूसी साहित्य के महान् प्रतिनिधियों की यही धारणा रही है।'

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा इस परम्परा को आगे बढ़ाती है और वह 'हमेशा यथार्थवादी, सामाजिक रूप से निर्देश पायी हुई कला की हिमायती रही है' The champion of realistic, socially directed art.'

लेनिन ने साहित्य और कला के प्रति मार्क्सवादी रुख स्पष्ट किया था। ज्दानोव ने १९०५ में लिखे हुए उनके 'पार्टी सङ्गठन और पार्टी साहित्य नामक लेख का जिक्र किया है जिसमें लेनिन ने कहा था कि—'साहित्य गैर-पार्टीजन नहीं हो सकता; उसे सर्वहारा लक्ष्य का महत्वपूर्ण अंग बनना चाहिए।'

ज्दानोव ने लेनिन के ये प्रसिद्ध वाक्य उद्धृत किये हैं—'साहित्य को पार्टीजन होना चाहिये। पूँजीवादी रूपों का मुकाबला करने के लिये, पूँजीपतियों की पैसा-कमाऊ और रोजगारी प्रेस का मुकाबला करने के लिये, साहित्य में

पूँजीवादी पेशेवर तरक्की ( Carcerism ) व्यक्तिवाद, 'सज्जनों की अराजकता' और नफाखोरी का मुकाबला करने के लिये समाजवादी सर्वहारा वर्ग को पार्टी-साहित्य का सिद्धान्त आगे रखना चाहिये, उसे इस सिद्धान्त को विकसित करना चाहिये और यथासम्भव पूर्ण और सर्वाङ्गीण रूप से उसे चरितार्थ करना चाहिये।

'पार्टी-साहित्य का सिद्धान्त क्या है ? यही नहीं कि समाजवादी सर्वहारा के लिये साहित्य-सेवा व्यक्तियों या गुटों के निजी लाभ का साधन नहीं बन सकती, बल्कि यह भी कि आमतौर से यह साहित्य सेवा समूचे सर्वहारा उद्देश्य नहीं हो सकती। गैरपार्टीजन लेखक मुर्दाबाद ! साहित्य सेवा को आम सर्वहारा उद्देश्य का अंग बनना चाहिये...

'समाज में रहना और उससे स्वतन्त्र भी होना नामुमकिन है। पूँजीवादी लेखक, कलाकार, या अभिनेत्री की आजादी, घूस, तनख्वाह या सेठ की गुलामी है जो मुँदी हुई है ( या जिसे बेईमानी से मूँदा गया है )।'

इस पर ज्दानोव ने टिप्पणी देकर साहित्य के प्रति मार्क्सवादी लेखकों के राजनीतिक दृष्टिकोण पर फिर जोर दिया है—'लेनिनवाद की भिन्नता इस बात में है कि हमारा साहित्य अराजनीतिक नहीं हो सकता, वह 'कला कला के लिये' वाला नहीं हो सकता। इसके बदले उससे माँग की जाती है कि सामाजिक जीवन में वह अग्रदल का काम करे। इसीलिये साहित्य में लेनिनवाद का सिद्धान्त पार्टीजन बनने का है। साहित्य-विज्ञान को लेनिन की यह बहुत महत्वपूर्ण देन है।'

लेनिन ने अपना लेख १६०५ के अंत में लिखा था, उस समय जब कि रूस के बुद्धिजीवी फिसल रहे थे और बहुत से लेखक जनता का दल छोड़कर प्रतिक्रिया-वादियों के दल में शामिल हो रहे थे। लेनिन ने पार्टीजन साहित्य का नारा उस समय दिया था जब पूँजीवाद कायम था और जब सर्वहारावर्ग उसे खत्म करने की अपनी पहली कोशिश में नाकामयाब रहा था।

इससे जाहिर है कि पार्टीजन साहित्य के सिद्धान्त को सोवियत समाज का सिद्धांत कह कर, और इस बहाने कि हमारे यहाँ तो वैसा समाज कायम नहीं

हुआ, टाला नहीं जा सकता। इसके विपरीत पूँजीवादी समाज के लिये तो वह सिद्धांत सौ गुना सही है। ज्दानोव ने उस सिद्धांत की तरफ फिर ध्यान खींच-कर साबित किया है कि चालीस साल बाद भी मार्क्सवादी लेखकों के लिए उसका पालन करना अनिवार्य है। ऐसा साहित्य जो सर्वहारा उद्देश्य का अंग नहीं बन गया, मार्क्सवादी कहलाने का हकदार नहीं हो सकता।

इसके बाद ज्दानोव ने स्तालिन की उस उक्ति की तरफ ध्यान खींचा है जिसमें लेखकों को 'मानव हृदय का इंजीनियर' कहा गया है। इससे सोवियत लेखकों की भारी जिम्मेदारी का पता चलता है।

ज्दानोव ने उन लोगों की खबर ली है जो समझते हैं कि 'पैदावार में बरबादी' हो तो अक्षम्य है, लेकिन साहित्य में बरबादी हो तो वैसी कोई बात नहीं है। ज्दानोव पूछते हैं—'लेकिन दरअसल पैदावार में अपना काम न पूरा करने से क्या वह ज्यादा बड़ा अपराध नहीं है?'

इसीलिये सोवियत पार्टी की केन्द्रीय समिति ने और मोर्चों के बराबर लाने के लिये साहित्य और विचारों के मोर्चे की तरफ भी ध्यान दिया है।

कुछ दूसरे लेखकों की दलील थी कि लड़ाई के जमाने में पढ़नेभर को साहित्य नहीं छपा, अतः पाठकों को जो कुछ भी दिया जायगा, उसी से वे प्रसन्न होंगे। लेकिन 'सोवियत जनता लेखकों से ऊँची माँग करती है; वह अपने सैद्धान्तिक और सांस्कृतिक हकों की पूर्ति चाहती है।'

साहित्य का उद्देश्य जनता की माँगों को पूरा करना ही है या उसकी अभि-रुचि को और निखारना भी है, ज्दानोव ने इस सवाल का जवाब यह दिया है कि साहित्य को जनता की अभिरुचि निखारनी चाहिये और उसे नये विचारों से समृद्ध करना चाहिये।

लेनिनग्राद के लेखकों की एक दूसरी गलती ज्दानोव ने यह बताई है कि वे सैद्धांतिक आलोचना के बदले आपस में दोस्ताने से काम लेने लगे थे। इससे बहुत बड़ा नुक्सान हुआ—'बिना आलोचना के कोई भी सङ्गठन—साहित्यिक सङ्गठन भी—पतन की तरफ चला जायगा। आलोचना के बिना किसी भी रोग के कीटाणु भीतर प्रवेश कर जायँगे और उनसे निपटना मुश्किल

हो जायगा। खुली और दो-टूक आलोचना से ही हमारी जनता को आत्म-सुधार करने में मदद मिलती है। ऐसी आलोचना से ही उसे आगे बढ़ने और अपनी खामियों को दूर करने की प्रेरणा मिलती है। जहाँ आलोचना नहीं होती, वहाँ ठहराव और सड़ाँध फैलती है और प्रगति के लिये गुञ्जाइश नहीं रहती।'

आलोचना से बचने वालों के लिये सोवियत समाज में स्थान नहीं है। अपनी और दूसरों की आलोचना समाज को आगे बढ़ाने वाली मुख्य शक्ति बन जाती है। योग्य नागरिक से आशा की जाती है कि वह अपने काम की खुद जाँच करे, हिम्मत से अपनी खामियों की आलोचना करे और इस तरह हमेशा अपने को सुधारता रहे।

ज्दानोव ने इस नियम को लेखकों के लिये भी अनिवार्य बताया है और कहा है—'जो भी अपनी रचनाओं की आलोचना करने से डरता है, वह क्षुद्र कायर है और जनता से सम्मान पाने का कुछ अधिकारी नहीं है।'

इसीलिये सैद्धांतिक आलोचना के बदले दोस्ती का निबाह साहित्यिक प्रगति के लिये घातक है। दरअसल यह दोस्ताने का भाव भी साहित्य के प्रति अराजनीतिक दृष्टिकोण से ही पैदा होता है।

ज्दानोव ने सम्पादकों के काम करने के ढंग में भी गलतियाँ दिखाई हैं। उनकी जिम्मेदारी स्पष्ट न होने से एक का भार दूसरे के कंधों पर टलता रहा।

लेनिनग्राद शहर से बोल्शेविक पार्टी के पुराने सम्बन्ध का जिक्र करते हुए ज्दानोव ने वहाँ के लेखकों को सैद्धांतिक कार्यकर्ताओं की अगली पाँति में खड़े होने का निमन्त्रण दिया।

भाषण के आखिरी हिस्से में सोवियत जनता और लेखकों के बारे में कुछ बड़ी मार्मिक और स्मरणीय बातें कही गयी हैं। पूँजीवादी चाटुकारों के मुँह पर ये इतने तमाचे हैं जो सोवियत साहित्य और सोवियत समाज पर कीचड़ उछालने के लिए पुरस्कार रूप में उन्हें मिलने चाहिये। इसके साथ ही ये वाक्य उन सभी लेखकों का माथा ऊँचा करते हैं जो अपनी कला का उपयोग मानव-समाज की प्रगति के लिये करते हैं—

'विचारों की सम्पत्ति भौतिक सम्पत्ति से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कल क्या होगा, इससे बेखबर होकर न तो भौतिक पैदावार में और न विचारों के क्षेत्र में हम जिन्दा रह सकते हैं।

'साथियो, हमारा साहित्य जनता के लिये, देश के लिये जीता है और उसी के लिये उसे जीना चाहिये। साहित्य का ध्येय जनता का ही ध्येय है। इसी-लिये तुम्हारी हर सफलता को, हर महत्वपूर्ण रचना को जनता अपनी ही सफलता समझती है। इसीलिये हम हर सफल रचना की तुलना युद्ध या आर्थिक मोर्चे की बड़ी जीत से कर सकते हैं। इसके साथ ही सोवियत साहित्य की हर असफलता जनता, पार्टी और राज्य को कड़वी लगती है और बुरी तरह अखरती है।...

'तुम सैद्धान्तिक मोर्चे की पहली पाँति में खड़े हो। तुम पर अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के बहुत बड़े काम पूरे करने की जिम्मेदारी है। इस बात से हर सच्चे सोवियत लेखक को जनता, पार्टी और राज्य की तरफ अपनी जिम्मेदारी और भी ज्यादा महसूस करनी चाहिये और उसे अपने कर्तव्य का महत्व और ज्यादा समझना चाहिये।'

सोवियत संघ की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीत सफलताओं से साम्राज्यवादी परेशान होकर किस तरह सोवियत सङ्घ पर कीचड़ उछालते हैं, यह बताने के बाद ज्दानोव सोवियत लेखकों से कहते हैं कि इनको घूँसा-दर-घूँसा जवाब ही नहीं देना है, बल्कि पूँजीवादी संस्कृति के खोखलेपन का पर्दाफाश भी करना है।

पूँजीवादी कला के बारे में ज्दानोव ने कहा—'पच्छिमी यूरोप और अमरीका के आधुनिक फैशनेबल लेखकों की रचनाएँ ऊपर से चाहे जितनी रँगी-चुनी हों, फिल्म और थियेटर के निर्देशकों की कृतियाँ चाहे जितनी सुघर मालूम पड़ती हों, वे पूँजीवादी संस्कृति को न तो उन्नत बना सकती हैं, न उसकी प्राण-रक्षा कर सकती हैं। इन रचनाओं की नैतिक बुनियाद सड़ी हुई और घातक है। यह कला व्यक्तिगत पूँजीवादी सम्पत्ति की चाकरी करती हैं, समाज के उच्च पूँजी-वादी तबकों के स्वार्थी हितों की सेवा करती है। झुंड के झुंड पूँजीवादी लेखक फिल्म और थियेटर निर्देशक समाज के अग्रसर लेखकों का ध्यान राजनीतिक

और सामाजिक संघर्ष के सवालों से हटाकर ओछे और सैद्धान्तिक रूप से छूँछे साहित्य और कला की ओर ले जाना चाहते हैं। ऐसे साहित्य और कला में गुंडों, हरजाइयों, पर नारी प्रेम और तमाम तरह की गुन्डा हरकतों और किस्सों की बाढ़ रहती है।'

पूँजीवादी लेखकों की यह कोशिश है कि समाज के अग्रसर लोगों का ध्यान राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष से हट जाय। यही सबब है कि आजकल हर देश में साहित्य और शाश्वत मूल्यों का सवाल एक खास ढङ्ग से उठाया जा रहा है। ऐसे सवालों को उठाने वालों के साहित्य प्रेम की कसौटी यह है कि मौजूदा राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष को वह साहित्य में किस तरह और कौन-सी जगह देते हैं। ९९ फीसदी उनकी कोशिशें इसीलिए होती हैं कि वे साहित्य को संघर्ष के रास्ते से दूर ले जाकर उसे अराजनीतिक और सिद्धान्तहीन बना दें या पूँजीवादी राजनीति का पिछलगुआ बना दें। १ फीसदी में वे लोग हैं जो साहित्य और सामाजिक यथार्थ पर मार्क्सवाद की मान्यताओं के बारे में उलझन में हैं।

ज्दानोव ने यह घोषणा की है कि सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने समृद्धिकाल में जिस कोटि की कलात्मक रचनाएँ की हैं, समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठ कृतियाँ उन रचनाओं से बहुत आगे निकल जायँगी।

अन्त में बोल्शेविक पार्टी साहित्य को क्यों इतना महत्व देती है, इस बारे में ज्दानोव ने कहा—'हमारी जनता, राज्य और पार्टी यह नहीं चाहती कि साहित्य सामयिक जीवन से परे हट जाय बल्कि यह चाहती है कि वह सोवियत जीवन के हर अंग में सक्रिय रूप से दखल करे। बोल्शेविक लोग साहित्य को बहुत मूल्यवान समझते हैं। जनता की नैतिक और राजनीतिक एकता को मजबूत बनाने में जनता को शिक्षित और सुगठित करने में वे साहित्य की महान् ऐतिहासिक भूमिका और उसके मिशन को साफ-साफ देखते हैं। पार्टी का केन्द्रीय समिति चाहती है कि विचार क्षेत्र की यह संस्कृति खूब समृद्ध हो क्योंकि इस सम्पति को बढ़ाना समाजवाद के प्रमुख लक्ष्यों में से है।'

# साहित्य में संयुक्त मोर्चे की समस्याएँ

साहित्य में संयुक्त मोर्चे का सवाल देश काल से परे नहीं है। आज वह किन्हीं ठोस राष्ट्रीय परिस्थितियों में उठाया जा रहा है। इन परिस्थितियों की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की मुख्य विशेषता यह है कि युद्ध और शान्ति की शक्तियों में शान्ति की शक्तियाँ ज्यादा मजबूत हैं। दूसरे महायुद्ध में सोवियत संघ ने फासिस्ट राज्यों को परास्त किया जिससे साम्राज्यवादी व्यवस्था कमजोर हो गई। युद्ध के बाद सोवियत संघ कमजोर नहीं हुआ बल्कि पहले से भी वह ज्यादा शक्तिशाली बन गया। पूर्वी यूरोप में नये जनतन्त्रों का निर्माण हुआ; चीन की जनता ने ऐतिहासिक विजय प्राप्त की। पराधीन देशों के स्वाधीनता आन्दोलन तेजी से आगे बढ़े। समूचे संसार में एक विशाल शान्ति आन्दोलन सङ्गठित होकर आततायियों से शान्ति की रक्षा करने में प्रयत्नशील है। दूसरे महायुद्ध में सोवियत संघ की वीरता और बलिदान के फलस्वरूप शान्ति और जनतन्त्र की शक्तियाँ इतनी बलवती हो गयी हैं कि वे अब संसार में स्थायी शान्ति कायम कर सकती हैं।

दूसरी तरफ साम्राज्यवादी खेमे का भीतरी सङ्कट तीव्र हो रहा है। अमरीकी इजारेदारों की बेहिसाब मुनाफा कमाने की नीति खुद अमरीकी जनता और बाकी तमाम देशों की जनता के हितों से टक्कर खाती है। अमरीकी साम्राज्यवाद का बैंक दिवालिया होकर जिस दिन बैठेगा उस दिन यूरोप और एशिया के बहुत-से इजारेदारों के चूल्हे भी ठंढे हो जायँगे। साम्राज्यवादी खेमे के सहयोगियों का एका लुटेरों का-सा एका है जो दूसरों को लूटने के साथ-साथ एक-दूसरे को भी लूटने की ताक में रहते हैं। इसलिए जहाँ शान्ति के खेमे का एका मजबूत होता जाता है वहाँ साम्राज्यवादी खेमे का एका कमजोर होता जाता है। अमरीकी जंगबाजों और उनके सहायकों की नीति आज प्रत्येक देश की जनता के आर्थिक,

राजनीतिक और सांस्कृतिक हितों से टकराती है। इसलिए किसी भी देश में कोई भी राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आन्दोलन—अगर वह जनता के हित में है, तो—विश्वशान्ति आन्दोलन का अंग बने बिना नहीं रह सकता।

युद्ध के खेमे के सिरे पर अमरीका है। शान्ति के खेमे के सिरे पर सोवियत संघ है। शान्ति की शक्तियाँ युद्ध की शक्तियों पर विजय पा सकती हैं—अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की यह ऐतिहासिक सचाई है।

चीन की विशाल जनता का स्वाधीनता आन्दोलन चेयरमैन माओ-से-तुङ्ग के नेतृत्व में महान विजय प्राप्त करके एशिया में साम्राज्यवाद को और भी कमजोर बना चुका है। चीनी प्रजातन्त्र एशिया में शान्ति और स्वाधीनता का प्रहरी है। फ्रांसीसी, डच, ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ दक्षिण-पूर्वी एशिया के स्वाधीनता आन्दोलन विजयी चीन से बल प्राप्त करते हैं और अपने संघर्ष से विश्व-शान्ति के खेमे को मजबूत बनाते हैं। तमाम एशिया की जनता की लड़ाई साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मिली-जुली लड़ाई है। इसलिए कोरिया की वीर जनता का स्वाधीनता-संग्राम वियतनाम की जनता को मदद पहुँचाता है। और वियतनाम की जनता स्वाधीनता-संग्राम कोरिया की जनता को मदद पहुँचाता है। ये स्वाधीनता-संग्राम साम्राज्यवाद के खिलाफ हैं, इसलिए साम्राज्यवाद का साथ देने वालों के भी खिलाफ हैं।

वे नये जनतन्त्र के आन्दोलन हैं जिनमें साम्राज्यवादियों से मिले हुए पूँजीपतियों और सामन्ती अवशेषों की शक्ति छीन ली जायगी।

दूसरे महायुद्ध के बाद उपनिवेशों और पराधीन देशों का शक्तिशाली स्वाधीनता-आन्दोलन अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की दूसरी मुख्य विशेषता है।

एशिया के पराधीन देशों और उपनिवेशों में साहित्य का संयुक्त मोर्चा जनता के विशाल साम्राज्यविरोधी, सामन्त-विरोधी मोर्चे के सङ्घर्ष और उसकी विजय में सहायक होता है।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय परिस्थिति की विशेषता क्या है? हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय परिस्थिति की विशेषता यह है कि यहाँ पर से न तो साम्राज्यवादी शोषण खत्म हुआ है, न सामन्ती अवशेष खत्म हुए हैं। १५ अगस्त सन् ४७ के बाद

बड़े पूँजीपतियों के और साम्राज्य का गठबन्धन जरूर पक्का हो गया है। इस तारीख के पहले साम्राज्यवाद के नजदीकी साथी होते हुए भी बड़े पूँजीपति मोल-भाव करने में लगे हुए थे। अब उनका सौदा पक्का हो गया और वे राष्ट्र-विरोधी दुश्मनों के साथी बन गये। इसका यह मतलब नहीं है कि साम्राज्यवाद और हिन्दुस्तान के बड़े पूँजीपतियों के अन्तर्विरोध मिट गये हैं या वे स्वाधीनता आन्दोलन के लिए कमोबेश महत्व नहीं रखते। मुख्य बात यह है कि सन् '४८ में हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन ने एक नई मंजिल में पैर रखा जिसमें बड़े पूँजीपतियों और उनके प्रतिनिधि नेताओं ने जनता के साथ विश्वासघात करके साम्राज्यवाद का साथ दिया और यह ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य हो गया कि मजदूर वर्ग सच्ची स्वाधीनता और जनतन्त्र की प्राप्ति के लिए तमाम जनता का संयुक्त मोर्चा बनाये और स्वाधीनता आन्दोलन को विजय की मंजिल तक ले जाय।

साहित्य में संयुक्त मोर्चा बनाने का सवाल इस नई मंजिल में उठ रहा है। यह संयुक्त मोर्चा साम्राज्यवाद, बड़े पूँजीपतियों और सामन्ती शक्तियों के खिलाफ होगा—यह किसी व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं है। इसका फैसला इतिहास ने कर दिया है और इतिहास ने ही हिन्दुस्तान के मजदूर वर्ग को जन्म देकर उस पर यह जिम्मेदारी डाली है कि जिस काम को पूँजीपति पूरा नहीं कर सकते, उसे वह पूरा करे यानी स्वाधीनता-आन्दोलन का दृढ़ता से अंत तक नेतृत्व करे।

साहित्य का संयुक्त मोर्चा साम्राज्यवाद, बड़े पूँजीपतियों और सामन्ती अवशेषों की राजनीति और अर्थनीति का ही विरोधी नहीं है, वह उनकी संस्कृति और विचारधारा का भी विरोधी है क्योंकि यह संस्कृति और विचारधारा साम्राज्यवाद और उसके सहायकों के कायम रहने में मदद देती है। यही नहीं, संयुक्त मोर्चे के ढुलमुल या अस्थायी सहायकों—मध्यम पूँजीपतियों—की विचारधारा और पूँजीवादी संस्कृति का विरोध करना भी संयुक्त मोर्चे के लेखकों का फर्ज है। पूँजीवादी संस्कृति सारी दुनिया के पैमाने पर पतनशील है और भारत के पूँजीपतियों की संस्कृति उस विश्वपूँजीवादी संस्कृति का एक अंग है। इसलिए

साहित्य के संयुक्त मोर्चे में जिन लोगों की संस्कृति को बर्दाश्त करने और उनकी विचारधारा को धीरे-धीरे सुधारने का सवाल उठता है, वे मध्यम वर्ग, दस्तकार, कारीगर, धनी किसान, मध्यम किसान वगैरह हैं।

चीन में जिन दिनों जापान विरोधी स्वाधीनता-संग्राम चल रहा था, उन दिनों बहुत से पूँजीपति और जमींदार राजनीतिक संयुक्त मोर्चे में शामिल थे। इनके बारे में चेयरमैन माओ-से-तुङ्ग की हिदायत थी कि उनका साहित्य और बाकी जनता का साहित्य अलग-अलग है। येनान में उन्होंने कहा था—'हमें उन जमींदारों और पूँजीपतियों से सहयोग करना चाहिये जो अभी जापानियों का विरोध कर रहे हैं लेकिन यह ध्यान में रखते हुए कि वे आम जनता के लिए जनतन्त्र का विरोध करते हैं। उनके पास उनका अपना साहित्य और कला हैं; हमारा साहित्य और कला उनके लिए नहीं रचे गये और न वे इन्हें स्वीकार करते हैं।'

इससे जाहिर है कि प्रगतिशील साहित्य में पूँजीवादी विचारधारा को इस बहाने बर्दाश्त नहीं किया जा सकता कि कुछ पूँजीपति राजनीति के संयुक्त मोर्चे में शामिल हैं।

चीन के साहित्यिक आन्दोलन का इतिहास बतलाते हुए कुओमोजो ने लिखा है—'ये ऐतिहासिक तथ्य बतलाते हैं कि चीनी पूँजीवादी वर्ग साहित्य और कला के नेतृत्व को हथियाने पर तुला हुआ था, फिर भी वह बुरी तरह असफल रहा क्योंकि वह जनता से एकता कायम नहीं कर सका।'

प्रगतिशील साहित्य किस जनता की सेवा करे, इसके बारे में चेयरमैन माओ ने येनान वाले भाषण में कहा है—'आम जनता कौन है! हमारी आबादी का ६० फीसदी से ऊपर हिस्सा मजदूर, किसान सिपाही और मध्यवर्ग के लोग हैं। इसलिए हमारे साहित्य और कला को पहले मजदूर वर्ग की सेवा करनी चाहिये जो क्रान्ति का नेतृत्व करता है, दूसरे, किसानों की सेवा करनी चाहिये जो क्रान्ति में मजदूर वर्ग का सबसे बड़ा और दृढ़ साथी है, तीसरे, किसानों और मजदूरों की हथियारबन्दी शक्तियों की सेवा करनी चाहिये—आठवीं और नवीं चौथी फौजों की तथा दूसरी जनसेवाओं की—जो हमारी

लड़ाकू शक्तियों का मुख्य आधार हैं, चौथे मध्यमवर्ग [पेटी बुर्जुआजी] की, जो क्रांति का साथी है और एक लम्बे अरसे तक चलने वाले कार्यक्रम में हमसे सहयोग कर सकता है।'

जनता के इन चार हिस्सों का सापेक्ष महत्व बतलाते हुए चेयरमैन माओ ने कहा—'हमारा साहित्य और कला इन चार तरह के लोगों के लिए है जिनसे आम जनता बनती है। इनमें मजदूरों, किसानों और सैनिकों का महत्व सबसे पहले है। मध्यवर्ग का सांस्कृतिक स्तर दूसरों से ऊँचा हो सकता है लेकिन वह सबसे कमजोर जमात है, संख्या में भी और क्रांतिकारी कूवत में भी। इसलिए हमारा साहित्य और कला सबसे पहले मजदूरों, किसानों और सिपाहियों के लिए है और केवल गौणरूप से मध्यवर्ग के लिए। इससे उल्टी बात गलत होगी।'

संयुक्त मोर्चे के अन्दर वर्गों के इस सापेक्ष महत्व को याद रखना जरूरी है।

संयुक्त मोर्चे की बहस में हिस्सा लेने वाले प्रगतिशील लेखक पिछले साहित्य का मूल्याङ्कन किस तरह कर रहे हैं? 'हंस' और 'नया साहित्य' से कुछ मिसालें हम यहाँ ले सकते हैं।

नवम्बर सन् ५० के 'हंस' में श्री अमृत राय लिखते हैं—'पिछले दो बरस में प्रगतिशील लेखक आन्दोलन ने जो भीषण संकीर्णतावादी, उग्रवामपंथी भूलें की हैं जिनके कारण हमने अपने मित्रों को भी अपना शत्रु जानकर अपने से दूर ठेल दिया है, उनको साहस के साथ स्वीकार करना होगा और फिर नये सिरे से, सद्भावनापूर्वक आगे बढ़ना होगा।'

इस लेख में दो वर्षों की सफलताओं का कहीं जिक्र नहीं है। मालूम होता है कि दो साल पहले हम राजमार्ग पर शान से चले जा रहे थे कि अचानक कुछ लोगों ने हमें गुमराह करके तोड़-फोड़ के काम में लगा दिया। जिन भीषण संकीर्णतावादी भूलों का जिक्र किया गया है, उनकी मिसाल एक भी नहीं दी गयी। ये भूलें दो साल में क्यों हुईं, इन भूलों के होने का आधार क्या था—इसके बारे में भी हमें कोई इत्तिला नहीं मिलती।

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त फरवरी सन् ५१ में लिखते हैं—'शासकवर्ग के हिमायती लेखकों के विरुद्ध अपने अस्त्रों की समस्त शक्ति न लगाकर हम उनकी धार मित्र-विचारधाराओं के विरुद्ध आज़माते रहे। इस गलती को सिद्धान्त रूप से साहित्य में त्रातस्कीवाद कहना अनुपयुक्त न होगा। यह स्पष्ट है कि जब राजनीति में हम त्रातस्कीवादी गलतियाँ कर रहे थे, तब साहित्य में ही कैसे सही लेनिनवादी पथ पर चलते।'

प्रकाशचन्द्र जी को कम से कम यह तो बताना चाहिये था कि त्रातस्कीवाद किसे कहते हैं और वह साहित्य में कैसे प्रकट हुआ है।

फरवरी ५१ 'हंस' में श्री राम गोपाल सिंह चौहान लिखते हैं—

'देश की राजनीतिक परिस्थिति को आँकते हुए साहित्य में हमारी समझ राजनीति में उग्रवामपन्थी संकीर्णतावादी समझ की ही तरह उग्रवामपन्थी संकीर्णतावादी थी।'

राजनीति में उग्र वामपन्थी संकीर्णतावाद की कोई मिसाल उन्होंने किसी बयान या लेख से नहीं दी और न किसी की साहित्यिक रचना से उन्होंने कोई उद्धरण दिया है जिससे मालूम होता कि साहित्य में संकीर्णतावाद यों प्रकट होता है।

आगे वह कहते हैं—'हम समझते थे कि देश में पूँजीवादी ढाँचा विकास कर रहा है और हम अब सशस्त्र समाजवादी क्रान्ति के दौड़ में हैं।'

हो सकता है कि श्री रामगोपालसिंह चौहान समझते रहे हों कि हम समाजवादी क्रान्ति के दौर में हैं लेकिन दूसरों की समझ के बारे में राय देते वक्त उन्हें कोई सबूत, मिसाल वगैरह भी देनी चाहिये थी जिससे हम उनकी बात को सही समझते।

श्री रांगेय राघव की आलोचना ज्यादा साफ है जिसमें वह कहते हैं—'हमारे साहित्य में ट्राट्स्कीवाद पूरी तरह उतर आया था। उसका मुख्य श्रेय मैं डा० रामविलास शर्मा को देता हूँ।'

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की १६ वीं कांग्रेस में स्तालिन ने त्रात्स्कीवाद के रूप और विषय वस्तु के बारे में कहा था—'अमल में आत्मसमर्पण-

वाद यह उसकी विषय वस्तु है; वामपन्थी लफ्फाजी और 'क्रान्तिकारी' और दु:साहसिक पैंतरेबाजी—यह उसका रूप है। त्रात्स्कीवाद का यह सारतत्व है।'

'स्तालिन और चीनी क्रान्ति नाम के लेख में चीनी विद्वान् चेन पोता चीनी क्रांति के साम्राज्यविरोधी पहलुओं का जिक्र करते हुए लिखते हैं—'उस समय त्रात्स्कीवादी इस नीति का विरोध कर रहे थे। वे समझते थे, विदेशी मुल्कों से चीन के सम्बन्ध का सवाल सिर्फ चुङ्गी का सवाल है। इस तरह वे चीनी क्रान्ति के साम्राज्य-विरोधी पहलू को अस्वीकार करते थे। वे चीन के सामन्ती अवशेषों के विशाल प्रभाव को मानने से इनकार करते थे, इस तरह चीनी क्रान्ति के सामंत विरोधी पहलू को अस्वीकार करते थे।'

इससे जाहिर है कि पराधीन देशों और उपनिवेशों में त्रात्स्कीवाद की जड़ क्रान्ति के साम्राज्य-विरोधी पहलू या सामन्त-विरोधी पहलू को भूल जाना है। इस भूल से सिर्फ वामपन्थी गलतियाँ नहीं होतीं बल्कि दक्षिण-पंथी गलतियों की जड़ भी वही है। जैसा कि चेन पोता ने कहा है—'यहाँ पर यह बताना जरूरी है कि पिछले बीस से कुछ ऊपर वर्षों में हमारी पार्टी में दक्षिणपंथी और 'वामपंथी' अवसरवाद की जो गलतियाँ हुई हैं, वे सबसे पहले क्रान्ति के रूप के बारे में स्तालिन की इस द्वन्द्वात्मक व्याख्या के उल्लंघन का नतीजा हैं जिनमें या तो साम्राज्य-विरोधी पहलू को भुला दिया गया है या सामन्तविरोधी को।'

इससे पता चलता है कि दक्षिणपंथी और वामपंथी भूलों की जड़ मिली-जुली है। सोवियत संघ की तरह चीन में भी दोनों तरह के क्रान्तिविरोधी मिल गये थे। इसलिए यह देखना गैर वाजिब न होगा कि हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों ने साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भूमिका के बारे में क्या लिखा है, किस हद तक उनका विरोध किया है, और किस हद तक उनसे समझौता किया है।

यह दिलचस्प बात है कि पिछले दो-तीन साल के साहित्य पर अपनी राय जाहिर करते हुए 'हँस' और 'नया साहित्य' के लेखकों ने आमतौर पर माउंटबेटन योजना के बारे में चुप्पी साध ली है या कहीं जिक्र भी किया है तो यह नहीं बतलाया कि प्रगतिशील साहित्य में उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई है। वह बात

अपने आप में एक सबूत है कि ये लेखक साहित्य में संकीर्णता की छानबीन करते हुए साम्राज्यवादी योजनाओं को भूल जाते हैं।

सन् '४७ के उत्तरार्द्ध में प्रगतिशील लेखकों के सामने माउंटबेटन योजना का रहस्य स्पष्ट नहीं था। उन्होंने उसका तीव्रता से खंडन नहीं किया और न उन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति काँग्रेसी नेताओं के विश्वासघात पर रोशनी डाली। उस समय भी साहित्य में एक संयुक्त मोर्चा बना हुआ था जिसमें सब लोग गान्धी महात्मा की जय बोल रहे थे और बहुत-से प्रगतिशील लेखक उन लोगों की तरफ से चुप्पी साधे थे जो गान्धी महात्मा के साथ लार्ड माउंटबेटन की जय बोल रहे थे।

फर्वरी सन, ४८ में हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस हुई। इसमें माउंटबेटन योजना का रहस्य पहली बार देश की जनता के सामने प्रकट हुआ।

अगस्त सन्' ४७ से लेकर फर्वरी सन् ४८ के बीच के दिनों के बारे में कॉमरेड, रजनी पाम दत्त 'ब्रिटेन के साम्राज्य संकट' ( Britain's Crisis of Empire ) में लिखते हैं—'हिन्दुस्तान जैसे देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन साम्राज्यवाद के साथ बड़े पूँजीपतियों के पूर्ण क्रान्तिविरोधी सहयोग की गद्दारी से कुछ समय के लिए उलझन में पड़ गया था। वह अब औद्योगिक मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व में जो कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में प्रकट होगा, अपनी शक्तियों को फिर बटोरते हुए, एक विशाल जनवादी साम्राज्यवादी मोर्चे के अन्दर जनता के विशद अङ्गों को एक करते हुए ही आगे बढ़ सकता है। यह आम नीति हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की हाल में होने वाली दूसरी पार्टी कांग्रेस के फैसलों में जाहिर हुई।'

इसी तथ्य को बलाबुशेविच, द्याकोव आदि सोवियत लेखकों ने भी स्वीकार किया है। माउंटबेटन योजना का वास्तविक रहस्य प्रकट होना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उसका प्रभाव सभी वामपन्थी दलों और विचारकों पर कमो-बेश पड़ा। प्रगतिशील लेखकों ने भी सन् ४८ के उत्तरार्द्ध में माउंटबेटन योजना का पर्दाफाश करते हुए बहुत-कुछ लिखा। इस तरह प्रगतिशील साहित्य ने

साम्राज्यवाद का विरोध किया और देश की जनता के स्वाधीनता संबंधी भ्रम दूर करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। यह स्वाभाविक था कि जो लोग बड़े पूँजी-पतियों की विचारधारा के प्रतिनिधि थे, उनकी तीव्र आलोचना की जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस के मसौदे में सभी बातें सही नहीं हैं लेकिन उसका ऐतिहासिक महत्व है कि उसने वास्तविक स्वाधीनता और जनतन्त्र का ध्येय हमारे सामने रखा। जो लेखक अभी यही तय नहीं कर पाये कि साहित्य में संयुक्त मोर्चा किसके खिलाफ बनेगा, किसके नेतृत्त्व में बनेगा, उसका उद्देश्य क्या है, उनकी चेतना १५ अगस्त ४७ के आसपास मंडरा रही है और उन्होंने बाद की भ्रान्तियों को भी सही पृष्ठभूमि में नहीं देखा।

सन् ४६ में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने कई बयान छापे जिनमें साम्राज्य-वाद, सामन्तवाद और देशी पूँजीवाद की भूमिका को गलत पेश किया गया था। इनमें जून सन् ४६ में प्रकाशित होने वाला कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यनीति संबंधी बयान मुख्य है। अगर यह मान भी लें कि प्रगतिशील लेखकों ने इस बयान को अपना आधार बनाया तो भी जून सन् ४६ के बाद सम्भव होगा; उससे पहले डेढ़ साल का साहित्य उसके आधार पर रचा हुआ नहीं कहा जा सकता। इसलिए जब सर्व श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रामगोपाल चौहान दो साल के साहित्य को बिना किसी विभाजन के त्रात्स्कीवादी नीति पर आधा-रित कहते हैं, तब वे एक ऐसी बात कहते हैं जिसका उनके पास कोई सबूत नहीं है।

इसके अलावा ध्यान देने की बात यह है कि प्रगतिशील साहित्य आन्दो-लन और कम्युनिस्ट पार्टी में कभी कोई ऐसा यांत्रिक संबंध नहीं रहा कि आज उसके नेतृत्व ने एक प्रस्ताव पास किया हो तो कल प्रगतिशील लेखक उस पर साहित्य रचने लगे हों। प्रगतिशील लेखक सङ्घ ने सन् ४६ में जो प्रस्ताव पास किये हैं—अप्रैल में यू० पी० प्रान्तीय सम्मेलन में और मई में अखिल भार-तीय सम्मेलन में—वे उसी समय के कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के मसौदों से काफी भिन्न हैं।

मिसाल के लिए मई ४६ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन

का घोषणापत्र कहता है—'अगस्त १९४७ के बाद भारतीय जनता की स्वाधीनता लड़ाई एक नये दौर में दाखिल हुई है। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में सदा साम्राज्यवाद से समझौता किया करता था, अब खुले आम साम्राज्यवाद से गठबन्धन कर लिया। ब्रिटिश कॉमनवेल्थ में बने रहने का जो निश्चय भारत सरकार ने किया है, वह इस गठबन्धन की ही चरम परिणिति है। यह समझौता जनता की इस इच्छा का विरोधी है कि इस देश में एक पूर्ण स्वतंत्र, सार्वभौम प्रजातांत्रिक राज्य स्थापित किया जाय।'

त्रात्सकीवादी विचारधारा के अनुसार भारतीय जन-आन्दोलन के साम्राज्य-विरोधी पहलू से इनकार करना चाहिये था। यह घोषणापत्र साम्राज्यवाद की भूमिका को प्रमुखता देता है। उसमें और बहुत-सी खामियाँ हैं लेकिन उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने राष्ट्रीय स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए संघर्ष को नजरन्दाज किया है।

श्रीरामगोपाल सिंह चौहान का कहना है—'हम समझते थे कि देश में पूँजीवादी ढाँचा विकास कर रहा है और हम अब अशस्त्र समाजवादी क्रान्ति के दौर में हैं।'

अगर यह बात सही है तो रामविलास शर्मा ने—जिन्हें साहित्य में त्रात्स्कीवाद लाने का मुख्य श्रेय प्राप्त है—श्री सुमित्रानन्दन पंत पर अपनी आलोचना में यह क्योंकर लिखा था—'जिस औपनिवेशिक व्यवस्था को अँग्रेज दो सौ साल से कायम किये हुए थे, वह झटके खाकर जगह-जगह टूटने लगी है। उसमें पेबन्द लगा कर जनता को बहलाया नहीं जा सकता।'

पन्त जी पर मेरे लेख का अंतिम वाक्य यह है—'और इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि हमारा साहित्य इस सङ्घर्ष को चित्रित करने के साथ-साथ जनता की विजय के लिए और अन्त में समाजवाद की स्थापना के लिए एक महान् प्रेरक शक्ति भी बनेगा।'

मैं श्री चौहान का ध्यान—'अन्त में समाजवाद की स्थापना के लिए'—इस वाक्यांश की तरफ खास तौर से खींचना चाहता हूँ। क्या इससे यह जाहिर होता है कि हमारी समझ में मौजूदा दौर समाजवादी क्रान्ति का है? औपनि-

वेशिक व्यवस्था के खिलाफ जनता की विजय के बाद 'अन्त में समाजवाद की स्थापना' होगी, यह कहना किस तरह संकीर्णतावादी है ?

'हंस' के दमन विरोधी अङ्क में काँग्रेसी नेताओं के विश्वासघात के बारे में मैंने लिखा था—'आज़ादी के नाम पर उन्होंने हिन्दुस्तान के गौरवपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन को अंग्रेज और अमरीकी सेठों के हाथ बेच दिया। जब तमाम उपनिवेशों में जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्य के पर्चे उड़ा रहे थे, उस समय क्रान्ति से भय खाकर इन पूँजीवादी नेताओं ने उसे नया जीवन दे दिया।'

इससे क्या जाहिर होता है ? साम्राज्यवादी प्रभुत्व खत्म हो गया या हिन्दुस्तान को जकड़े हुए है ?

काँग्रेसी दमन के सिलसिले में जनवादी मोर्चे के बारे में इस लेख में कहा गया है—'हमारा देश बहुत जल्दी एक विशाल कंसेंट्रेशन कैम्प बनता जा रहा है। हजारों की तादाद में लोगों को पकड़ कर जेलों में बन्द किया जा रहा है। इन बन्द किये जाने वालों में सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी के, सिर्फ सोशलिस्ट पार्टी और दूसरे वामपन्थी दलों के लोग ही नहीं हैं, इसमें काँग्रेस के लोग भी हैं और बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जो किसी भी दल या पार्टी के साथ जुड़े हुए नहीं हैं। यह हमला उस जनवादी मोर्चे पर है जिसमें ये सभी लोग शामिल हैं —हालाँकि उनका कोई एक प्लेटफार्म नहीं है, न किसी एक रजिस्टर में उनके नाम दर्ज हैं।

'यह जनवादी मोर्चा दिन पर दिन बढ़ता जाता है। यह करोड़ों जनता की हमदर्दी अपनी तरफ खींचता है। मौजूदा व्यवस्था से जो घोर असन्तोष फैला हुआ है वह सिमट कर इस जनवादी मोर्चे की ओर बहता है—यानी देश की तमाम जनता उन वामपन्थी जनवादियों का मुँह जोह रही है, जो इस व्यवस्था को खत्म करके सच्ची आजादी और जनतन्त्र लाने की बात करते हैं। इसलिए भले ही एक दल के नेता अपनी फूट नीति के कारण दूसरे दल के साथ संयुक्त मोर्चा न बनाये, देश की परिस्थितियाँ, समाज की अनिवार्य आवश्कताएँ, स्वयं जनता का अनुभव यह संयुक्त जनवादी मोर्चा गढ़ रहा है। इस जनवादी मोर्चे

को दृढ़ बनाना इतिहास के काम को पूरा करना है।'

यह ध्यान देने की बात है कि श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त वगैरह आजकल जब साहित्य में संकीर्णतावाद की चर्चा करते हैं तो मेरे लेखों से उद्धरण नहीं देते। ऊपर दिये हुए वाक्यों को वे चुपचाप दबा जाते हैं और त्रातस्कीवाद का नाम लेकर इस तरह विलाप करते हैं मानो इस विलाप में ही उन्हें आनन्द मिलता हो।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की शतवर्षी पर 'हंस' में प्रकाशित मेरे लेख में संकीर्णतावाद-प्रेमी सज्जन ये वाक्य पढ़ सकते हैं—चीन की क्रान्ति तमाम एशिया के भाग्य का निपटारा कर रही है। वियतनाम और इंडोनेशिया के सशस्त्र युद्ध को साम्राज्यवादियों ने खून में डुबो दिया। हिन्दुस्तान में नाविक विद्रोह, फौज और पुलिस की हड़तालें, मजदूरों और किसानों के शानदार आन्दोलन, १५ अगस्त की आजादी के लिए बलिदान कर दिये गये। जहाँ लोग कहने से न मानें, वहाँ उन्हें गोली चलाकर मनवाया जा रहा है कि तुम आजाद हो। लेकिन चीन में च्यांग और ट्रूमैन के तमाम दाँव असफल रहे। माओ-से-तुङ्ग और जूदे के नेतृत्व में चीनी क्रान्ति ने नयी सफलताएँ पायीं।'

जुलाई ४८ में 'संस्कृति और सङ्कट' नाम से श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का एक लेख छपा है। उसकी शुरुआत यों होती है—'पूँजीवाद ने उत्पादन के साधनों का अभूतपूर्व विकास करके एक ओर तो समाजवाद और जनसंस्कृति की संभावना के द्वार खोल दिये हैं, किन्तु दूसरी ओर लाभ पर अवलम्बित खोखली समाज-व्यवस्था और मृतप्राय संस्कृति की रक्षा का भी वह प्रयास करता है।'

गुप्त जी ने यूरप के देशों के लिए कहे हुए किसी वाक्य के इनवर्टेड कॉमा हटाकर उसे हिन्दुस्तान पर चस्पा कर दिया है। अगर हिन्दुस्तान में पूँजीवाद ने उत्पादन के साधनों का अभूतपूर्व विकास किया होता तो हमारा देश अर्द्ध उपनिवेश न रह कर फ्रान्स या इटली की तरह स्वयं एक साम्राज्यवादी देश होता, तब जन आन्दोलन की रीति-नीति भी दूसरी होती।

नवम्बर ४८ के अपने लेख में श्री अमृतराय लिखते हैं—'लेखक की प्रगतिशीलता या प्रतिक्रियाशीलता इस बात पर निर्भर होती है कि चेतन अथवा

अचेतन रूप में वह उस वर्ग के साथ है जो आज समाज को आगे, नवजीवन की ओर, समाजवाद और साम्यवाद की ओर ले जा रहा है या पीछे, फासिस्ट अन्धकार या अपमृत्यु की ओर घसीट रहा है।'

यहाँ पर स्वाधीनता और जनतंत्र के लिए संघर्ष करने का सवाल नहीं है। सवाल है सीधा समाजवाद की तरफ बढ़ने का या फासिज़्म की तरफ घसीटने का।

जून ४९ में वह लिखते हैं—'आपके साथ आज बिल्कुल यही बात हो रही है, और आज चूँकि हम पूँजीशाही के अंतिम मरण-संकट और विश्व-क्रांति तथा विश्व-समाजवाद के दौर से गुजर रहे हैं, इसलिए आप और दुनिया की दूसरी सभी पूँजीवादी तानाशाहियाँ अपने को कायम रखने के लिए 'जनतंत्र' का अपना नकाब फेंक-फाँक कर अपने असली, फासिस्ट रूप में सामने आ रही है और अपने हथियार-खाने से दमन के नये-नये चमचमाते हुए हथियार निकाल कर जनता की आजादी का गला रेत रही है।'

यहाँ पर यह समझ ( या नासमझी ) साफ दिखाई दे रही है कि जैसे और देशों में पूँजीवाद फासिज्म के जरिये अपनी रक्षा कर रहा है, वैसे ही भारत में भी पूँजीवाद ( न कि साम्राज्यवाद और उसके सामन्ती-पूँजीवादी सहायक ) फासिज्म के जरिये अपनी हिफ़ाज़त कर रहा है। विश्व-क्रान्ति तथा विश्व-समाज के दौर में पराधीन देशों के स्वाधीनता आन्दोलन की भूमिका खो गई है।

लेकिन ये पुरानी बातें हैं। सन् ५० और ५१ के 'हंस' और 'नया साहित्य' को लें तो हम यह नहीं कह सकते कि हमने साम्राज्यवाद के दाँवघात का हर कदम पर मुकाबला किया है। अब हमारे मित्र साम्राज्यवाद के विरोध की चर्चा तो करते हैं लेकिन साम्राज्यवादी प्रभुत्व हमारे राष्ट्रीय जीवन में किस तरह प्रकट होता है, इसको ठोस मिसालें वे अपने लेखों में नहीं देते। इसका सबब यह है कि वे कुछ सूत्रों को कंठस्थ करके उन्हें हर जगह दोहराने के आदी हैं। इन सूत्रों से बाहर जहाँ उन्हें कोई नयी चीज़ दिखाई देती है, वे घबरा उठते हैं। हमें साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिये, इस बात को श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

और श्री अमृतराय कई बार कह चुके हैं लेकिन आये दिन की राजनीतिक घटनाओं में वे अपने सूत्र को लागू करने की कोशिश नहीं करते ! मसलन् कलकत्ते से दार्जिलिङ्ग होते हुए अमरीकी हथियार ल्हासा भेजे गये, तिब्बत में चीन के खिलाफ साम्राज्यवादियों ने षड्यन्त्र रच कर हिन्दुस्तान को चीन-विरोधी जंग में घसीटने की कोशिश की; नेपाल में दखलंदाजी करके उन्होंने फौजी अड्डा बनाने की कोशिश की; २८ दिसम्बर १६५० को अमरीका की तरफ से लोय हैंडरसन ने और हिन्दुस्तान की तरफ से गिरजाशंकर वाजपेयी ने हिन्दुस्तान और अमरीका के औद्योगिक सहयोग के बारे में एक समझौते पर दस्तखत किये; अन्न देने के सम्बन्ध में अमरीकी मोलभाव, हिन्दुस्तान में बढ़ता हुआ साम्राज्यवादी युद्ध प्रचार, काश्मीर में साम्राज्यवादी षड्यंत्र इस तरह की पचीसों बातें हैं जिन पर प्रगतिशील पत्र-सम्पादकों को लिखना चाहिए। इन पर न लिख कर जब वे रटे हुए सूत्र दोहराते हैं तब उसका मतलब यही है कि उन्होंने साम्राज्य-विरोध का नारा ऊपरी तौर से स्वीकार कर लिया है लेकिन साम्राज्यवादी प्रभुत्व की हकीकत और उसके दाँव-पेंच से वे खुद अपरिचित हैं।

प्रगतिशील लेखकों के लिए सबसे बड़ा खतरा यह है कि वे जन-आन्दोलन के सामन्त-विरोधी पहलू को भुला देने का मतलब है, देश की ८० फीसदी किसान जनता की जिन्दगी और मौत के सवाल को भुला देना। हमारा देश खेती-प्रधान है। यहाँ की आबादी का बहुसंख्यक हिस्सा सामन्ती अवशेषों—और बहुत जगह प्राचीन गुलामी के बन्धनों से—पीड़ित है। साम्राज्यवाद ने इस सामन्ती अर्द्धसामन्ती, गुलामी, अर्द्ध-गुलामी के शोषण को सुरक्षित रखा है, स्वयं अपना शोषण कायम रखने के लिए उपनिवेशों और पराधीन देशों की समस्या जैसा कि विख्यात है, मूलतः किसान-समस्या है। इस समस्या को भुला देने का मतलब है, परोक्ष-रूप से साम्राज्यवादी प्रभुता को कायम रखने में मदद देना।

अगर हम इस बात पर गौर करें कि प्रेमचन्द के निधन के बाद प्रगतिशील लेखकों ने कितनी कहानियाँ और उपन्यास किसानों की जिन्दगी पर लिखे हैं तो हमें परिस्थिति की गंभीरता का पता चल जायगा पिछले १५ साल

के प्रगतिशील कथा साहित्य में हिन्दुस्तान की आबादी के सबसे बड़े हिस्से का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। यह कौन-सा यथार्थवाद है? हमारे मित्र कहने के लिए चाहे जो कहें, हकीकत यह है कि उन्होंने अमल में मध्यमवर्ग के किसानों और मजदूरों से ज्यादा महत्व दिया है। उनके नायक-नायिकाएँ चाहे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की प्रतिनिध ही दिखाये गये हों, लेकिन होरी और धनिया के सामने वे मोम की गुड़ियों की तरह हैं।

संकीर्णतावाद का असली और सबसे खतरनाक रूप यह है।

संकीर्णतावाद का मतलब है—जनता से अलगाव। हमारा अमल साबित करता है कि किसानों और मजदूरों के जीवन उनकी समस्याओं को हम अपने साहित्य में जगह नहीं दे पाये। और यह हकीकत साल दो-साल की नहीं है। मर्ज़ पुराना है और उसे दूर करने में तकलीफ उठानी पड़ सकती है।

यह बात नहीं है कि किसानों के बारे में लिखा न गया हो। लेकिन जो कुछ लिखा गया है, वह बहुत नाकाफी है और हम किसी तरह भी नहीं कह सकते कि हमने प्रेमचन्द के बाद किसान संबंधी कथा साहित्य आगे बढ़ाया है।

संकीर्णतावाद के खिलाफ लिखने वाले बहुत-से मित्र इस सवाल को उठाते ही नहीं हैं। उनके लिए जनता की जिंदगी से सम्पर्क पैदा करना किसान जनता को साहित्य में चित्रित करना संयुक्त मोर्चे का महत्वपूर्ण सवाल नहीं है।

साहित्य में संकीर्णतावाद कैसे दूर हो, इस बारे में माओ-से-तुङ्ग ने यूनान में कहा था—'मिसाल के लिए साहित्य और कला में संकीर्णतावाद सैद्धान्तिक सवाल है। अगर हम संकीर्णतावाद खत्म करना चाहते हैं तो हमें यह नारा लगाना चाहिये और उसे अमल में लाना चाहिये; किसानों और हजदूरों के लिए काम करो; आठवीं और नयी चौथी फौजों के लिए काम करो; जनता में जाओ!' वरना हम कभी भी संकीर्णतावाद से पीछा न छुड़ा पायेंगे।'

इस सीख को अमल में लाकर ही हम सङ्कीर्णतावाद दूर कर सकते हैं और कोई छोटा सुगम मार्ग नहीं है।

दुर्भाग्य से इस सीख पर अमल करना तो दूर, हमारे कुछ मित्र सामंतवाद को पुष्ट करने वाली जानी-बूझी विचारधाराओं का जान या अनजान में सम-

र्थन करते हैं। गाँधीवाद और साम्प्रदायिकता दोनों ही सामंतवादी की रक्षा करते हैं। हमारे मित्र एग्ज़िस्टेन्शलिज्म पर तो लेख लिखते हैं लेकिन पंत कवि-वर और महापंडित राहुल के साहित्य में गाँधीवाद और साम्प्रदायिकता के विष के खिलाफ़ चुप्पी साध जाते हैं।

कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत लिखते हैं—

'राजभवन हे राजभवन, जन मन के मोहन!
युग युग के इतिहास रहे तुम भू के जीवन!'

और—

'प्रजातंत्र के साथ राज्य रह सकते जीवित,
जन जीवन विकास के नियमों से अनुशासित।'

इस तरह की कविताओं की आलोचना करना तो दूर, हमारे मित्र इनकी आलोचना करने वालों को संकीर्णतावादी कह कर सामन्तवाद के समर्थकों को सीधी मदद पहुँचाते हैं। पंत जी रहस्यवाद और मार्क्सवाद का समन्वय करते रहे हैं जिसके बारे में मेरा कहना है—'जिस तरह ज्ञान और अज्ञान में कोई समन्वय नहीं हो सकता, उसी तरह मजदूरों के क्रान्तिकारी दर्शन मार्क्सवाद, सामंती और पूँजीवादी आदर्शवाद में कोई समन्वय नहीं हो सकता।'

पन्तजी के रहस्यवाद का खंडन करने के बदले मेरी आलोचना को संकीर्णतावादी कह कर मेरे मित्र सामन्ती और पूँजीवादी विचारधारा ही मदद करते हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं—सन् ५० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'आज की राजनीति' में—'आखिर उर्दू क्या बला है? क्या वह इस्लामिक जेहादियों के भारत-विजय के उपलक्ष में खड़ा कीर्तिस्तम्भ नहीं है? हम जानते हैं कि उनके लिए भारत में यह कोई नयी चीज नहीं थी। इस्लाम ने जो भी कहा हो, किन्तु मुसलमानों ने अपने आप को देश की धारा का अंग बनाने से सदा इन्कार किया।'

'आज की राजनीति' में एक पात्र कहता है—आज भारत से हमारी स्वतन्त्रता के दुश्मन बिदा हो गये हैं। पाकिस्तान ने देश के एक भाग को काट

कर अपना राज्य खड़ा कर लिया और मैं यह मानता हूँ कि वह तब तक छेड़-खानी करता रहेगा जब तक एक मर्तबे अच्छी तरह पटकी न खायगा।

दूसरा पात्र कहता है—मैं तो समझता हूँ कि एक बार शस्त्र परीक्षा अच्छी तरह हुए बिना पाकिस्तान की अकल ठिकाने नहीं लगेगी।'

नवम्बर सन् '५० के 'हंस' में श्री अमृतराय ने प्रेमचन्द्र की कमजोरी का जिक्र किया है कि 'उन्होंने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की पूँजीवादी नेताशाही की तरह साम्राज्यवादी भेदनीति के आगे अपनी असफलता, अपनी व्यर्थता मान लिया।'

लेकिन जनवरी ५१ के 'हंस' में 'आज की राजनीति' के लेखक हिन्दी-उर्दू के मसले पर जाने-बूझे साम्प्रदायिक प्रचारक महापंडित राहुल के लिए श्री अमृतराय ने लिखा है—'मोटी तौर पर यह बात भी कही जा सकती है कि उनका साहित्य सामन्तवादी समाज-व्यवस्थ का पोषक नहीं है।'

इससे जाहिर है कि सामन्त-विरोध की बात अभी ऊपरी है, हमारे मित्रों के लिये वह व्यवहार की वस्तु नहीं बन पायी।

प्रतिक्रियावादी विचारधारा की एक विशेषता कम्युनिष्ट-विरोध है। मैं यहाँ ईमानदारी के मतभेद और गलतफहमियों की बात नहीं करता। मैं उन लोगों की बात कहता हूँ जो अपने को कम्युनिज्म का हमदर्द कहते आये हैं या अब भी कहते हैं। ये लोग जब कम्युनिस्ट क्रान्ति, कम्युनिस्ट तानाशाही, कम्युनिस्ट गड़बड़ी की बातें करते हैं, तब हम उनका तीव्र विरोध किये बिना नहीं रह सकते। हर ईमानदार जनवादी को इसका विरोध करना चाहिये चाहे वह कम्युनिज्म से सहमत हो चाहे असहमत...क्योंकि अब सारी दुनियाँ का तजुर्बा बतलाता है कि हर देश के सयुक्त जनवादी मोर्चे में कम्युनिस्ट अभिन्न रूप से मौजूद हैं और उनकी भूमिका के बिना उनका निर्माण नहीं होता।

'आज के राजनीति' में युधिष्ठिर कहता है—'तो लालभवानी आके खा जायगी। जानते हैं न, चीन में लाल भवानी आ गई।'

वही पात्र आगे कहता है—'यदि समय पर नहीं सँभले तो लाल भवानी के आने में देर नहीं होगी; और उनके स्वागत में न जाने कितने नर-नारी

आपसी संघर्ष में बलि चढ़ेंगे।'

राहुल जी के पात्र लाल भवानी का डर दिखाते हैं लेकिन हिन्दुस्तान-पाकिस्तान युद्ध का स्वागत करने के लिए मारू संगीत छेड़ते हैं। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त 'उत्तरा' की भूमिका में कहते हैं—'वर्ग युद्ध का पहलू फासिज्म की तरह निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायगा।

यहाँ पर पन्त जी तमाम प्रतिक्रियावादियों की तरह फासिज्म और कम्युनिज्म को एक जैसा कह कर अपने रहस्यवाद को बेनकाब कर दिया है।

मेरे कुछ मित्रों ने मेरे लेखों के सिलसिले में कम्युनिज्म या कम्युनिज्म पार्टी का सवाल उठाया है। उनकी तर्क योजना का पहलू ध्यान देने योग्य है।

श्री राहुल सांकृत्यायन के सम्बन्ध में मेरे एक लेख का उत्तर देते हुए श्री प्रज्ञाचक्षु कहते हैं—'उन्हें तो गुप्त आदेश मिला है—डैम राहुल और वे अपने विवेक को, वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बालाये ताक रखकर दर्शन के जंगल में घुस पड़े हैं।' (नवयुग, २८ जनवरी ५१)

यह कीचड़ फेंकते हुए इन सज्जन को खुद उसकी दुर्गन्ध से इतनी पीड़ा हुई कि उन्होंने मुँह पर कपड़ा बाँध लिया और असली नाम का 'प्र' लेकर नकली नाम प्रज्ञाचक्षु रखकर ही साहित्य के मैदान में कदम रख सके।

राहुल सम्बन्धी उसी लेख का जिक्र करते हुए श्री अमृतराय जनवरी '५१ के 'हंस' में लिखते हैं—'क्या जो आदमी कम्युनिस्ट पार्टी की सभी बातों को नहीं मानता या जिसकी रचनाएँ देशकाल से अलग करके समझे गये यांत्रिक 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद' की कसौटी पर खरी नहीं उतरती प्रतिक्रियावादी है?'

अमृतराय जी ने यह तो नहीं कहा कि रामविलास को पार्टी से आदेश मिला है कि जो कम्युनिस्ट न हो, उसे 'डैम' कर दो लेकिन उनके सवाल का मतलब साफ है कि मेरा यही धन्धा रहा है। सन् '४६ की गर्मियों में उन्होंने 'प्रगति' में 'प्रेमचन्द्र की परम्परा' नाम से मेरा एक लेख छापा था। उसमें साम्राज्य-विरोधी खेमे के लेखकों में श्री बैजनाथ सिंह विनोद (जो उस समय सोशलिस्ट पार्टी में

थे ) कांग्रेसी श्री रामनारायण यादवेन्दु, सरकारी कर्मचारी गिरजाकुमार माथुर, गैर-पार्टी लेखक तेजबहादुर चौधरी, गिरीश अस्थाना, घनश्याम अस्थाना वगैरह का जिक्र किया गया है और उनकी रचनाओं से उद्धरण दिये गये हैं। ये सज्जन न सन् '४६ में कम्युनिस्ट पार्टी की सारी बातें मानते थे और न आज मानते हैं। लेकिन मेरी समझ में ये तब भी साम्राज्य-विरोधी लेखक थे और आज भी हैं।

तब श्री अमृतराय को यह इशारा करने की जरूरत क्यों पड़ी कि जो कम्युनिस्ट पार्टी की सभी बातों को न माने, उसे मैं प्रतिक्रियावादी कहता रहा हूँ।

जरूरत यों पड़ी कि वह शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, पन्त जी वगैरह पर लिखी हुई मेरी आलोचना को गलत साबित करना चाहते हैं लेकिन कोई दलील न पाकर वह उस स्तर पर उतर आये हैं जो किसी भी प्रगतिशील लेखक के लिए शर्मनाक है। अगर हम आलोचना के तर्कों का खंडन न करके यह आरोप लगाने लगें कि जो कम्युनिस्ट पार्टी की सारी बातें नहीं मानता उसे तुम प्रतिक्रियावादी कहते हो तो सैद्धांतिक स्तर पर बहस कैसे चलेगी?

असली बात यह है कि चौहान मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे हैं और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान् लेखक ने रूसी क्रांति के अवसर पर 'तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं,' उनका इसी तरह की वोल्तेयर और शैली की रचनाओं की तरह 'कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।' चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटा कर शाश्वत तथा अर्द्ध शाश्वत प्रश्नों की तरफ मोड़ा जाय। उनकी इस प्रगतिविरोधी विचारधारा का मैंने 'विप्लव' और 'नया सबेरा' के दो लेखों में खंडन किया है। मेरे मित्र न तो खुल कर कह सकते हैं कि चौहान ने जो लिखा है, ठीक लिखा है और न मेरे तर्कों का जवाब दे सकते हैं। इसलिए 'कला कला के लिए' की तरह 'विरोध-विरोध करने के लिए' के उसूल पर ये सज्जन आलोचना की जगह रिमार्क पास करते हैं, शायद यह समझ कर कि आस्तिक हिन्दू की तरह मैं उनके आर्ष वाक्यों को चुपचाप स्वीकार कर लूँगा।

इसी तरह पन्त जी में मार्क्सवाद और गाँधीवाद के समन्वय का, उनके रहस्यवाद और वर्ग सहयोग का मैंने खंडन किया है। रांगेय राघव के साहित्य में इतिहास की पुनरुत्थानवादी धारणाओं, रहस्यवाद, पराजयवाद, इनकलाब-वाद, कला के प्रति लापर्वाही वगैरह का विरोध किया है। मैं अपने इन तमाम लेखों की स्थापनाओं को सही मानता हूँ और अपने मित्रों से आग्रह करता हूँ कि आप चौहान, रांगेय राघव, राहुल जी आदि की रचनाओं की खुद आलोचना कीजिये, जो बातें मुझ से छूट गई हों उन्हें प्रकाश में लाइये और जो बातें मैंने गलत कही हों उनका युक्तिपूर्ण खंडन कीजिये। यह रास्ता प्रगतिशील आलोचना के विकास का रास्ता है और रिमार्क पास करने वाला रास्ता आपके पतन का रास्ता है।

रामगोपाल सिंह चौहान ने झूठ की दौड़ में सबसे आगे रहने के ख्याल से लिखा है—'हमारी आलोचना की मात्र कसौटी थी—अमुक रचना अथवा अमुक लेखक आँख मूँद कर सौ फी सदी मजदूरवर्ग, खेतिहर मजदूरवर्ग तथा कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा जनता के अन्य अंगों—निम्नमध्यम वर्ग 'राष्ट्रीय पूँजीपति तथा अन्य संस्थाओं का सर्वहारा में इनके प्रति घृणोत्पादक ढङ्ग से भंडाफोड़ न करता हो, उनका मखौल न उड़ाता हो, सशस्त्र समाजवादी क्रान्ति का नारा न देता हो, तो वह लेखक और रचना प्रतिक्रियावादी है, दुश्मन-पक्षी है।'

इस तरह की बातें वही लिख सकता है जो या तो पिछले तीन साल के आलोचना साहित्य से एकदम अपरिचित है या जो जानबूझ कर प्रगतिशील लेखकों में फूट डालने पर तुला हुआ है।

अक्टूबर '५० से लेकर मार्च '५१ तक के 'हंस' में, छः महीनों में, एक बार भी श्री अमृतराय ने तैलंगाना के उन वीरों को याद नहीं किया, जिन्हें निजामशाही और नेहरूशाही ने फाँसी की सजा दे रखी है। 'नया साहित्य,' 'नयी चेतना' देश-विदेश के अनेक जनवादी पत्र उनकी सजा को रद करने की माँग कर चुके हैं। लेकिन यह माँग करना तो दूर, अमृतराय ने रांगेय राघव का एक बयान छापा है जिसमें कहा गया है—'बाबर की तोपों पर जान दे देने

वाले राजपूतों का जमाना गया। क्रान्ति व्यक्तिगत वीरता का प्रदर्शन मात्र नहीं है। वह आतंकवादी खेल नहीं है कि दूर मजदूर-किसान बेटों का खून गिरा करे और टुटपुँजिये मध्यवर्गीय अपनी रीढ़ की हड्डियों में दूर बैठकर सनसनी का मजा लेते रहें। केवल शस्त्र उठा लेना ही यह जाहिर नहीं करता कि उस लड़ाई को चला ले जाने की ताकत भी साथ में आ गई है। ऐसे ही लोगों ने खिलाफत के लिए होने वाले आन्दोलन को पूरी तरह से स्वराज्य का आन्दोलन समझ कर जो धोखा उठाया था वही निजाम और नेहरू की फौज में भेद न कर दुहराया गया।'

आज के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में सम्पादकीय लेख निकला है जिसमें झाँसी के चार शहीदों की विदाई पर आँसू बहाये गये हैं। गोली चलाने वालों के खिलाफ गुस्से का एक शब्द नहीं है। गुस्से के शब्द भोली-भाली जनता को 'भड़काने वालों' के लिए कहे गये हैं।

कुछ दिन पहले ग्वालियर में चन्द विद्यार्थी शहीद हुए थे। उस वक्त भी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने उनसे बड़ी हमदर्दी जाहिर की थी लेकिन गोली चलाने वालों के खिलाफ एक शब्द न कह कर गुस्सा उतारा था 'भड़काने वालों पर।'

श्री रांगेय राघव ने तैलंगाना में जुल्म करने वालों के लिए गुस्से का एक लफ्ज इस्तेमाल नहीं किया; गुस्सा उतारा है, किसानों को भड़काने वालों पर।

यह महत्वपूर्ण इंटर्व्यू के लेने के लिए श्री रामगोपाल सिंह चौहान बनारस से आगरे तशरीफ लाये थे, उसी समय जबकि सुप्रीम कोर्ट में तैलंगाना के वीरों का मुकदमा पेश था।

साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, बड़े पूँजीपतियों की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक नीति का ठोस तरीके से कदम-कदम पर पर्दाफाश करके ही प्रगतिशील लेखक अपनी सामाजिक जिम्मेदारी निबाह सकते हैं। इसके लिए जरूरी है कि हम सही तरीके पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध को समझें। मिसाल के लिए अगर हम दूसरे देशों के शान्ति-आन्दोलन को लें तो देखेंगे कि वहाँ के शान्ति-सैनिक विश्व शान्ति का सम्बन्ध अपने देश की समस्याओं से जोड़ते है।

वार्सा कांग्रेस में पोलैंड के वैज्ञानिक ने कहा—'वार्सा का पुनर्निर्माण किस तरह हो रहा है ? यह सच है कि ईंट और गारे से नयी दीवालें खड़ी की जा रही हैं। लेकिन असली मसाला जिससे वार्सा फिर से बनाया जा रहा है वह पोलैंड की जनता की शान्ति के लिए इच्छा-शक्ति है।'

वार्सा कांग्रेस में एक ब्रिटिश कंजर्वेटिव पार्टी के सदस्य ने कहा—'क्या इङ्गलैंड के लोग भी शान्ति चाहते हैं ? बेशक वे शान्ति चाहते हैं। क्या वे कोरिया, मलाया और दक्षिणी अफ्रीका की घटनाओं से चिन्तित हैं ? बेशक, वे चिन्तित हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं समझता हूँ कि शुरू से ही कोरिया में फौजें भेज कर हमने कितनी बड़ी गलती की है लेकिन जब तक वह धूर्त मैक आर्थर स्योल के खँडहरों में खुदा से इबादत नहीं करने लगा तब तक एक ईसाई की हैसियत से मैंने नहीं समझा था कि हम किस चीज का सामना कर रहे हैं।'

वार्सा कांग्रेस में अफ्रीका के एक नीग्रो प्रतिनिधि ने कहा—'अमरीका में नीग्रो जनता का संघर्ष विश्व की औपनिवेशिक जनता के संघर्ष से, ब्रिटिश अफ्रीका, फ्रान्सीसी अफ्रीका, लैटिन अमरीका, वेस्ट इन्डीज़ के मेरे भाइयों और तमाम दुनिया के काले रङ्ग के आदमियों के संघर्ष से सीधे जुड़ा हुआ है। उन सब की तरफ मैं भाईचारे का हाथ बढ़ाता हूँ।'

वार्सा कांग्रेस में वियतनाम के प्रतिनिधि ने कहा—'वियतनाम के लोग विश्वशान्ति के लिए दो तरह से लड़ रहे हैं : पहले तो वे फ्रान्सीसी साम्राज्य-वादियों और अमरीकी दखलन्दाजों के खिलाफ अपना संघर्ष तेज कर रहे हैं; सरे, वे विश्वशान्ति आन्दोलन को हर तरह की मदद दे रहे हैं।

वार्सा कांग्रेस में इंडोनीशिया के प्रतिनिधि ने कहा—'इंडोनीशिया में अब भी वही आर्थिक ढाँचा है जो युद्ध के पहले था। इंडोनीशिया में विदेशी पूँजी बराबर उँड़ेली जा रही है, मसलन विदेशी साम्राज्यवादियों से, खास कर अम-रीका से, कर्ज के रूप में लगान २०० फीसदी बढ़ गया है और दूसरे टैक्स लगाये जा रहे हैं। इससे हर इन्डोनीशिया की जिन्दगी पर भार पड़ता है। मुद्रा-विस्तार बढ़ रहा है और इंडोनीशिया की पुरानी भूमि-व्यवस्था अभी भी बरकरार है।'

इससे जाहिर है कि विश्व-शान्ति का सम्बन्ध प्रत्येक देश की अपनी समस्याओं से है। उन समस्याओं से शान्ति का सम्बन्ध दिखा कर ही शान्ति-सैनिक आम जनता को शान्ति के संघर्ष में बटोर सकते हैं। जब बात हृदय से निकलती है, तब वह सीधी-सादी और पुरअसर शैली में होती है। हिन्दी के कुछ प्रगतिशील लेखक इस बारे में खामोश रहते हैं कि जंगबाज़ हिन्दुस्तान को युद्ध में घसीटने के लिए क्या षड्यन्त्र कर रहे हैं। वे ठोस तरीके पर इस बात की मिसालें भी नहीं देते कि हिन्दुस्तान की मौजूदा समाज-व्यवस्था से विश्व-शान्ति आन्दोलन या युद्ध की तैयारियों का क्या सम्बन्ध हो सकता है। इस ठोस विश्लेषण के अभाव को वे शब्दों की पच्चीकारी से पूरा करने की कोशिश करते हैं। मिसाल के लिए अक्टूबर सन् '५० के 'हंस' में ये वाक्य पढ़िये—

'क्या आपका कण्ठ आज के इस ऐतिहासिक क्षण में भी रुद्ध ही रहेगा, जब कि मानवता उस जगह पर खड़ी है जहाँ उसके पास ही, हाथ भर की दूरी पर एक मीलों गहरा, स्याह और अँधेरा खड्ड है जिसमें गिरने पर निकलता नहीं है, सिर्फ घुटन है और मृत्यु है और दूसरी ओर कुछ दूरी पर शायद काफी दूरी पर हिमाच्छादित पर्वत-शृंखला है जो इस बात की जैसे प्रतीक्षा कर रही है कि इस मानव आकर उस पर अपनी विजय-पताका फहराये, जो संघर्षशील, स्वाभिमानी मनुष्य को संकेत दे-देकर अपने पास बुला रही है और कह रही है, और उस ओर को मत जाना उधर अँधेरा है, मौत है, साँप हैं, बिच्छू हैं और भेड़िये हैं।'

इस लम्बे आलंकारिक वाक्य को ऊपर दिये हुए सीधे-सादे वाक्यों से मिलाकर देखें तो यह पता लगने में देर न लगेगी कि किसके मुँह से शान्ति के लिए सच्ची आवाज निकल रही है। जैसे टुटपुँजिया क्रान्तिवाद से पीड़ित कुछ लेखक क्रान्ति के बारे में लफ्फाज़ी करते हैं, वैसे ही कुछ लेखक शान्ति के बारे में शब्दों की झड़ी लगा देते हैं। लेकिन शब्दों के इस भाग में तत्व कुछ नहीं होता। यह कमजोरी तभी दूर हो सकती है जब हम देश की ठोस परिस्थितियों से शान्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध जोड़ें।

'हंस' की शान्ति सम्बन्धी टिप्पणियों की एक दूसरी खामी यह है कि उसमें युद्ध की शक्तियों को अत्यधिक भयानक दिखाया जाता है और शान्ति की ताकतों की अजेय शक्ति को कम करके दिखाया जाता है। मसलन 'हंस' के उसी अङ्क में हम पढ़ते हैं—'ये बादल अगर बरसें तो धरती खून से तर हो जायगी, मानव जाति का नाम तक मिट जायगा, केवल उसकी कहानी रह जायगी।'

पहली बात तो यह कि युद्ध छिड़ने पर मानव-जाति का नाम मिटने नहीं जा रहा। मानव-जाति जीवित रहेगी और नाश होगा युद्ध छेड़ने वालों का। दूसरी बात यह कि शान्ति के प्रहरी सोवियत संघ ने युद्ध की शक्तियों को अब तक रोका है, वह दिन पर दिन शक्तिमान होकर नये चीन और यूरोप के नये जनवादी देशों के साथ आज इस बात के लिए भी तैयार हैं कि अगर साम्राज्य-वादी युद्ध छेड़ें तो सदा के लिए उनका मुँह कुचल दिया जाय! पिछली सात नवम्बर को मार्शल बुल्गानिन ने यह बात साफ कर दी थी। लेकिन अक्टूबर, '५० के 'हंस' की इस लम्बी टिप्पणी में जिसमें हिमालय पहाड़ से लेकर साँप-बिच्छू सभी कुछ हैं, श्री अमृतराय ने एक बार भी सोवियत सङ्घ का नाम लेना जरूरी नहीं समझा। सोवियत सङ्घ के शान्ति-सम्बन्धी प्रयत्नों को अगर प्रगति-शील पत्र-सम्पादक जनता के सामने नहीं लायेंगे तो कौन लायेगा? इस सिल-सिले में 'हंस' और 'नया साहित्य' ने जो कुछ लिखा है वह बिल्कुल नाकाफी है और इन पत्रों की और खामियों में यह सबसे बड़ी खामी है।

जनता से अलगाव—यानी संकीर्णतावाद—का यह भी एक रूप है।

सिद्धान्त रूप में श्री अमृतराय सोवियत सङ्घ से मित्रता पर काफी जोर देते हैं लेकिन अमल में वह काफी तटस्थ नज़र आते हैं।

यह दिलचस्प बात है कि व्यवहार और विचार की एकता पर श्री प्रकाश-चन्द्र गुप्त और श्री अमृतराय दोनों जोर देते हैं लेकिन दोनों ही के अमल और उसूलों में गहरा अन्तर मिलता है।

अक्टूबर सन् '५० के 'हंस' में श्री अमृतराय लिखते हैं—'हमारे कबीरदास कह गये हैं कि कथनी और करनी में बड़ा फर्क होता है। इसलिए केवल कथनी

से अगर हम किसी को जाँचने लगेंगे तो धोखा खायँगे। हमें करनी को भी देखना होगा।'

बात बिल्कुल ठीक है। मैं यहाँ पर एक सवाल लूँगा—आलोचना में शैली का सवाल।

नवम्बर सन् '५० के 'हंस' में श्री अमृतराय लिखते हैं—'हिन्दी साहित्य में श्री इलाचन्द्र जोशी जैसे कुछ मलाहारी यथार्थवादी हैं...'

इलाचन्द्र जी की विचारधारा से मेरा तीव्र मतभेद है लेकिन मैं यह जानता हूँ उस विचारधारा के असर में बहुत से साम्राज्यविरोधी लेखक भी हैं। इसलिए शिष्टता के नाते न सही, नीति के लिहाज से भी ऐसे वाक्य लिखना प्रगतिशील आलोचना के लिए घातक है।

जनवरी सन् '५१ के 'हंस' में श्री अमृतराय ने यशपाल के बारे में लिखा है—'और इसीलिए उसको 'धर्मरक्षा' और 'प्रतिष्ठा का बोझ' जैसी घासलेटी, रंडी के दलालों की-सी कहानी लिखते देखकर मन एकदम गुस्से और तकलीफ से भर जाता है।'

यह शैली न आवेशपूर्ण है, न हास्यपूर्ण है, न ओजपूर्ण है; यह एकदम जलील है। अगर इस तरह पर 'हंस' बहस चलायेगा तो उसमें कितने आदमी हिस्सा ले सकेंगे?

नवम्बर सन्' ५० के हंस में श्री अमृतराय ने प्रेमचन्द्र के बारे में लिखा है—'क्या मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं?' शीर्षक अपनी टिप्पणी में उन्होंने मँझोले ढङ्ग के कांग्रेस नेता या साधारण पढ़े-लिखे कांग्रेसमैन की तरह काफी चलते-फिरते ढङ्ग से इस सवाल को यह कह कर टाल दिया है कि कुछ थोड़े-से खाँ बहादुर भले ही न हों (उसी तरह जैसे रायबहादुर भी नहीं हैं) मगर मुस्लिम जनता तो काँग्रेस के साथ है। अगर उन्होंने ऐसा न करके गहराई से इस हकीकत को स्वीकार करके उस पर विचार किया होता कि...'

यह जानकर मुझे काफी खुशी हुई कि चलते-फिरते ढङ्ग से मैंने ही बौद्ध दर्शन पर न लिखा था बल्कि प्रेमचन्द्र जी ने भी साम्प्रदायिकता पर एक टिप्पणी यों ही लिख दी थी। और कुओं में जो कि सीख पर मैंने ही ठहर कर

गौर न किया था, प्रेमचन्द्र जी ने भी गहराई से हकीकत को स्वीकार करके साम्प्रादयिकता पर विचार नहीं किया था। श्री अमृतराय के आलोचना के बवाजूद उनकी गहराई के मुकाबले में मुझे प्रेमचन्द्र का चलते-फिरते विचार करना ही ज्यादा पसन्द है।

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त एक ही वाक्य में भारत के तीन विश्वविख्यात कवियों को निपटाते हुए कहते हैं—'हम देखेंगे कि वाल्मीकि, कालीदास और तुलसी ने रघुकुल की प्रशस्तियाँ गाईं और राज्यसत्ता को भारी सहारा दिया।' चन्द बरदाई और भूषण का जिक्र करने के बाद अफ़सोस के साथ कहते हैं—'सामन्ती काल में इसके अतिरिक्त और कुछ संभव भी न था।'

मेरे कुछ मित्र कहते हैं कि रामविलास की आलोचना गैर संजीदा होती है। अगर वाल्मीकि और तुलसी पर उनकी ये सूक्तियाँ पढ़कर मैं संजदा रहने में असफल होता हूँ तो इसमें मेरा क्या कसूर है?

प्रकाशचन्द्र जी लोकप्रिय शैली के समर्थक हैं। मार्च ५१ के 'नया साहित्य' में वह लिखते हैं—'हम तुलसी और सूर के सामाजिक विचारदर्शन को आज नहीं अपना सकते; उसे इतिहास ने 'मैमथ' और 'डोडी' के समान अजायघर की वस्तु बना दिया है। किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध, उनके काव्य का जन सुलभ रूप आदि अनेक तत्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।'

आश्चर्य की बात है कि जनता से प्रेम रखते हुए, उससे निकटतम सम्बन्ध रखते हुए भी सूर और तुलसी सामन्तों के हित की ही बातें करते रहे मानों उस समय दरबारी संस्कृति और जन-संस्कृति में कोई भेद न था। इसलिए उनकी तमाम संस्कृति को प्रकाशचन्द्र जी अजायबगर में रख देते हैं। इन्हीं कवि तुलसी-दास की रचनाओं का अनुवाद करने के लिए सोवियत सरकार ने दूसरे महायुद्ध के दिनों में बरन्निकोव को लेनिनग्राद से हटा कर सुरक्षित कज़ाकिस्तान भेजा था और चार साल तक रामायण का अनुवाद करने के बाद भारत में सोवियत दूतावास खुलने के वक्त तुलसी को जनवादी कवि कहते हुए भारत और सोवियत की मैत्री दृढ़ करने के लिए बरन्निकोफ ने अपना अनुवाद प्रकाशित कराया था।

प्रकाशचन्द्र जी ने जनता से प्रेम करके क्या सीखा है ? 'मैमथ' और 'डोडो' की उपमाएँ देना !

× × ×

साहित्य में संयुक्त मोर्चे के निर्माण में 'हंस' और 'नया साहित्य' की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। संकीर्णतावाद के खिलाफ लड़ने वाले साथियों के सदुद्देश्य की सराहना करते हुए मैं उनसे निवेदन करूँगा कि आज हम उस परिस्थिति में हैं जब मन भर उपदेश के मुकाबले में छटाँक भर आचरण का महत्व बहुत ज्यादा है। 'हंस' के पिछले छः अंकों में बनारस के लेखकों ने कितना लिखा है और 'नया साहित्य' के पिछले छः अंकों में इलाहाबाद के लेखकों ने कितना लिखा है, इस पर हम गौर करें तो देखेंगे कि ये पत्र बनारस और इलाहाबाद का प्रतिनिधित्व ज्यादा करते हैं, आम स्वाधीनता-प्रेमी लखकों का प्रतिनिधित्व कम करते हैं। छः महीने तक संयुक्त मोर्चे की चर्चा करने के बाद अमल में ये छोटे-छोटे गुणों के पत्र बने हुए हैं। जिस तरह इनके पढ़ने वाले एक-दो शहरों के नहीं हैं, उसी तरह इनमें लिखने वालों का भी ऐसा जमाव होना चाहिए जिसमें हिन्दी के तमाम प्रगतिशील लेखक खास कर नये उभरते हुए लेखक मौजूद हों—हर अंक में नहीं लेकिन उस तरह जिस तरह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' अपने युग का प्रतिनिधित्व करती थी।

साहित्य में संयुक्त मोर्चे का उद्देश्य स्वाधीनता और जनतन्त्र है। इसलिए यह मोर्चा साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी लेखकों का होना चाहिये। इसके सङ्गठनकर्ता आलोचना के सैद्धान्तिक स्तर को जितना ही ऊँचा करेंगे, जनता से घनिष्ठ सम्पर्क कायम करके उसके बारे में लिख कर खुद मिसाल पेश करेंगे, अपने व्यवहार और विचारों में जितनी ही एकता पैदा करेंगे, उतना ही संयुक्त मोर्चों के निर्माण में उन्हें सफलता मिलेगी।

# हिन्दी साहित्य के पिछले २५ वर्ष

इस लेख का उद्देश्य पिछले पच्चीस वर्षों के हिन्दी साहित्य का इतिहास पेश करना नहीं है, वरन् इस बीच के साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों को परखना और आज की परिस्थितियों में नयी साहित्य-रचना के लिए कुछ निष्कर्ष सामने रखना है। प्रसङ्गावश जहाँ लेखकों की व्यक्तिगत आलोचना की गई है, वह गौणरूप से; प्रमुख साहित्यकारों पर भी अपना मत प्रकट करना मेरा लक्ष्य नहीं है।

सन् बीस तक नये हिन्दी साहित्य के दो युग समाप्त हो चुकते हैं—एक भारतेन्दु युग और दूसरा द्विवेदी युग। वीरगाथा काल या रीतिकाल के खत्म होने में जितना समय लगा था; उससे कहीं कम वक्त इन दो युगों ने लिया। १८वीं सदी के अन्त में सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हुए, उन्हीं के फलस्वरूप साहित्य-संसार में भी यह गति पैदा हुई।

सन् बीस के बाद देश और साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। हिन्दुस्तान ने कभी न भुलाये जाने वाले दमन के दृश्य देखे। रौलट ऐक्ट और जलियानवाला बाग इस बात की सूचना दे रहे थे कि युद्धकाल में किये गये वादों को तोड़ कर अङ्गरेज हुकूमत संगीनों के सहारे राज करने पर तुली हुई है। यूरप में रूस की जनता ने साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का जुआ उतार फेंका था और गुलाम देशों के सामने मिसाल रखी थी कि जनता की एकता के सामने साम्राज्यवादियों के बम और तोपें सब अकारथ हो जाते हैं। हिन्दुस्तान के महान् लेखक वल्लतोल, रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द्र आदि ने रूसी क्रान्ति और नयी सोवियत सभ्यता का स्वागत किया, इसलिए कि रूसी क्रान्ति की विजय भारतीय जनता को स्वाधीनता-संग्राम में विजय पाने का निमंत्रण दे रही थी।

सन् बीस में हमने हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली मंजिल देखी।

हिन्दू-मुस्लिम जनता की एकता देखकर साम्राज्यवादियों के छक्के छूटने लगे। हिन्दुस्तानी किसान जो इस खेतिहर देश का ६० फीसदी हिस्सा है—एक हद तक इस आन्दोलन में शामिल हुआ। साम्राज्यवाद के मुख्य आधार—सामन्त-शाही—से टक्कर लेने को वह बेचैन होने लगा। जगह-जगह उसने सरकारी ताकत से जोरदार मुठभेड़ की और आन्दोलन को उग्र रूप देना शुरू किया। साम्राज्यवाद से समझौता करने वाले नेताओं को यह बात पसन्द नहीं थी। उन्होंने जनता को स्वराज्य के अयोग्य बता कर आन्दोलन को ठप कर दिया। इसके बाद अङ्गरेजों और रायबहादुरों—खानबहादुरों की बन आई। उन्होंने कानपुर के से भयानक दंगे कराये और ऊँची-ऊँची हाँकने वाले नेताओं को कौंसिलों के पिंजड़ों में बन्द कर दिया।

इसी समय नवाब राय नाम का व्यक्ति सरकारी नौकरी पर लात मार कर राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल हुआ और देश-सेवा का मुख्य माध्यम उसने बनाया अपने कथा-साहित्य को। बनारस के पास एक गाँव में पैदा होने वाले ट्यूशनों से पढ़ाई करने वाले, लखनऊ की सैकेण्डहैण्ड किताबों की दुकानों पर पुराण और तिलस्मी नावेल पढ़ने वाले, बचपन में शादी का बोझ ढोने वाले इस डेढ़ पसली के आदमी ने साहित्य में एक नये युग को जन्म दिया। प्रेम-चन्द ने 'सेवासदन' लिखकर हिन्दी को पहला ऊँचे दर्जे का सामाजिक उपन्यास दिया और 'प्रेमाश्रम' लिखकर राष्ट्रीय आन्दोलन और किसानों के सङ्घर्ष का पहला विशद चित्र जनता के सामने रखा। 'प्रेमाश्रम' की रचना न सन् १९२० के पहले हो सकती थी जब इस तरह के सङ्घर्ष शुरू न हुए थे और न सन् ३० के बाद हो सकती थी जब प्रेमचन्द यह समझ गये थे कि इस सङ्घर्ष को सम-झौतों से रोकना नामुमकिन है। सन् '२० से सन् '३० के दशक की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक और उस समय के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की सबसे सुन्दर झाँकी 'प्रेमाश्रम' है।

प्रेमचन्द ने दिखाया कि जनता और साम्राज्यवाद के सङ्घर्ष में साहित्य तटस्थ नहीं है और समाज के साथ आगे बढ़ते हुए ही उच्च साहित्य की रचना की जा सकती है।

इसी दशक में हिन्दी कविता के नये युग छायावाद ने अपनी रूपरेखा निखारी। 'मतवाला' उस जमाने का एक निडर साम्राज्य-विरोधी पत्र था। उसकी टिप्पणियाँ, कविताएँ, कहानियाँ वगैरह बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं। 'मतवाला' के साथ 'निराला' का जन्म हुआ। आधे कलकतिया बाबू, आधे गढ़ा-कोला के किसान, अर्द्धनारीश्वर के समान निराला ने एक तरफ़ 'मतवाला' में 'चाबुक' फटकारना शुरू किया, तो दूसरी तरफ़ रहस्य-रागिनी भी अलापी। एक तरफ़ रहस्यवाद और पलायन, दूसरी तरफ़ रूढ़िवाद को चुनौती, छायावाद का यह द्वन्द्वरूप निराला में प्रत्यक्ष हो उठा था। विश्व साम्राज्यवाद के खिलाफ़ पीड़ित जनता की विप्लव-कामना को प्रकट करते हुए निराला ने लिखा—

'रुद्धकोष है, क्षुब्ध तोष,
अङ्गना-अङ्ग से लिपटे भी !
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं,
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं !
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
रे विप्लव के वीर !'

कृषक विप्लव-कामना क्यों न करता ? साम्राज्यवाद ने उसे लाठी अकाल और महामारी के अलावा और क्या दिया था ? शासक वर्ग की कमजोरी—आतङ्क का सहारा लेने पर भी काँपना और किसानों के जीर्ण-शीर्ण होने पर भी उनकी दुर्धर्ष विप्लवी आकांक्षा—यह युग-सत्य अनूठे ढङ्ग से इस कविता में व्यक्त हुआ है।

छायावादी कवियों ने मुख्यतः सङ्घर्ष किया—रीतिकालीन परम्परा के ख़िलाफ़। साहित्य में यह सङ्घर्ष अनिवार्य था। रीतिकालीन परम्परा का सामाजिक आधार थी सामन्तशाही। यही सामन्तशाही अब अंगरेजी राज का भी मुख्य सामाजिक आधार बन चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों का जमींदारों और राजाओं से लड़ना साहित्य से माँग करता था कि सामन्तशाही

की सांस्कृतिक परम्परा को खत्म किया जाय। इस बारे में पन्त, प्रसाद, निराला—छायावाद के तीनों महारथी एक थे। 'पल्लव' की भूमिका में पंतजी ने रीतिकालीन रूढ़िवाद की कड़ी आलोचना की, यद्यपि उसमें उन्होंने गलत ढङ्ग से संत कवियों को भी घसीट लिया। प्रसाद ने अपने निबन्धों में नयी रोमांटिक कविता का समर्थन किया और निराला ने तो अपने चुभते व्यंग्यवाण चलाकर तमाम रूढ़िवादियों को अपना शत्रु बना लिया।

निराला ने ललकारा—'हिन्दी साहित्य की पृथ्वी अब ब्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, यह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर 'धृतवान-सिवेदम्' के भक्तों की नजर में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है। नहीं मालूम बेवक्त की शहनाई के और क्या अर्थ हैं। एक समस्या पर बावन जिले के कवि ढेर हो जाते हैं।'

छायावादी कवि रीतिकालीन रूढ़िवाद से तटस्थ नहीं थे वरन् उसे निर्मूल करने में सबसे आगे थे। इसीलिए उन्हें साहित्यिक पंडों का कोपभाजन बनना पड़ा। रूढ़िवाद से लोहा लिये बिना साहित्य की प्रगति असम्भव थी। यह सङ्घर्ष सामन्तशाही के खिलाफ जनता की लड़ाई का जरूरी अङ्ग था।

जो लोग छायावादी कवियों के रहस्यवादी पक्ष को उछाल कर उसे उनकी मुख्य देन बताते हैं, वे छायावादी साहित्य की कमजोरी को आँख खोलकर देखने के बदले उसे शहजोरी कहकर पेश करते हैं। छायावादी कवियों में परिवर्तन और प्रगति की इच्छा अवश्य थी लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर इतिहास ने अभी क्रान्तिकारी मजदूर-वर्ग के हाथ में न सौंपी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन समझौते और सङ्घर्ष के विषम मार्ग पर चल रहा था। इसलिए निराशा, पस्ती, उदासी खुदा से इबादत, कभी संसार में प्रकाश ही प्रकाश और कभी अन्धकार ही अन्धकार के दर्शन, छायावाद की इस असङ्गति का एक सामाजिक आधार था। राष्ट्रीय आन्दोलन के सङ्गत रूप से साम्राज्य विरोधी होने से ही इस निराशावाद का खात्मा हो सकता था।

छायावाद की क्रान्तिकारी साम्राज्य-विरोधी परम्परा सन् ३० के बाद के

साहित्य में पनपती और विकसित होती रही। उसकी निराशावादी पलायनवादी-परम्परा क्रमशः क्षीण होती हुई अन्धकार में विलीन होती गई।

सन् '२०-'३० के दशक के छोर पर एक अज्ञात नाम अध्यापक ने काशी विश्वविद्यालय में आकर हिन्दी आलोचना में एक नया युग उपस्थित कर दिया। अब तक मिश्र बन्धुओं के नवरत्नों का बोलबाला था; देव और बिहारी की होड़ आलोचना का मुख्य विषय थी। छायावादी कवियों ने स्फुट आलोचनाएँ लिखी थीं। इस व्यक्ति ने नये सिरे से साहित्य का इतिहास लिखने का काम उठाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास दरअसल हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। इस इतिहास ने रीतिकालीन परम्परा को आचार्यों के अखाड़े में परास्त किया। इस तरह उसने छायावाद का समर्थन किया, यद्यपि प्रत्यक्षरूप से वह छायावाद का कटु आलोचक था। आगे चलकर शुक्लजी ने छायावाद के प्रति अधिक सहृदयता दिखाई लेकिन रीतिकालीन परंपरा पर अपने आक्षेप ज्यों के त्यों रहने दिये जो एकदम उचित था। साहित्य से लोकहित की माँग करना और उसे लोकहित से दूर रखने का विरोध करना—शुक्लजी की आलोचना की यह मुख्य देन है। 'वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी'—यह सोलह आने नपी-तुली उक्ति रीतिकालीन परंपरा पर उनके विचार प्रकट करती है। खास तौर से केशवदास के प्रेतकाव्य की जो आलोचना शुक्लजी ने की थी, उससे चन्द्रवदन मृगलोचनी वर्ग द्वारा बाबा कहे जाने वाले कुछ स्वनामधन्य उद्भट् आचार्य आज भी तिलमिला उठते हैं।

शुक्ल जी ने लिखा था—'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिये, वैसा उन्हें प्राप्त न था।'

विश्वविद्यालयों के अध्यापकों में शुक्लजी पहले आचार्य थे जिन्होंने रीतिकालीन रूढ़िवाद की तरफ यह समझौता न करने वाला विरोधी रुख अपनाया था। उन्होंने आलोचक की तटस्थता का मार्ग छोड़कर न्याय के पक्ष-समर्थन का

मार्ग अपनाया।

कुल मिलाकर सन् '२०—'३० का दर्शक साहित्यिक सरगर्मी का दर्शक था और इसी दर्शक में नये हिन्दी साहित्य के महारथी पन्त, प्रसाद, निराला प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल रङ्गमंच पर चमके। इस साहित्यिक सरगर्मी का मुख्य कारण हमारा स्वाधीनता-आन्दोलन था जिसने बुद्धिजीवियों में एक नयी प्रेरणा, एक सृजन-चेतना उत्पन्न कर दी थी। इस साहित्य की सीमाएँ उस युग के राष्ट्रीय आन्दोलन की ही सीमाएँ थीं।

सन् '३० के बाद स्वाधीनता आन्दोलन ने फिर कदम उठाया और साम्राज्य-वाद को ललकारा। अँग्रेजों ने तुरन्त गोलमेज के स्वांग में सुधारवादी नेताओं को फँसाया, साम्प्रदायिक नेताओं को बढ़ावा दिया जिन नेताओं ने सन् २० में लगानबन्दी आन्दोलन का विरोध किया था, उन्होंने ही इस बार भी स्वाधीता आन्दोलन को किसान क्रान्ति का रूप न लेने दिया। अनुभव ने साबित कर दिया कि सामन्त विरोधी आन्दोलन में ९० फीसदी किसान-जनता को लाये बिना स्वाधीनता-संग्राम सफल नहीं हो सकता।

गोलमेज अभिनय खत्म, फिर आन्दोलन शुरू, फिर दमन और अन्त में हरिजन उद्धार में हरि-हरि! अँग्रेजों ने सन् '३५ का ऐक्ट भेंट किया। पहले पद-ग्रहण का विरोध, फिर मंत्रिमण्डलों का निर्माण। जनता के सचेत अंश पुरानी लीक छोड़कर नयी लीकें ढूँढ़ने लगे।

निराला ने 'देवी', 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि नये ढङ्ग के स्केच लिखे जिनमें पीड़ित किसानों के व्यंग्य और हास्य से पूर्ण यथार्थवादी चित्र दिये। पन्त ने छायावाद को गुडबाई कहते हुए 'रूपाभ' निकाला लेकिन नक्षत्रलोक-का मोह न छोड़ सके। महादेवीजी ने दुखभरी रागिनी के अलावा ग्रामीण जीवन पर स्केच लिखे, प्रेमचन्द ने गोदान, कफन, मङ्गल सूत्र में साम्राज्यवादी और सामन्ती शोषण के अनुपम चित्र खींचे। इसी समय अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिसका ध्येय साम्राज्य-विरोधी साहित्य की रचना करना और स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए साहित्य को सशक्त अस्त्र के रूप में प्रयोग करना था। प्रेमचन्द ने 'हंस' की

टिप्पणियों द्वारा साम्राज्यवादियों के सोवियत-विरोधी प्रचार का खण्डन किया और नये लेखकों को आगे बढ़ाने में बहुत बड़ी मदद दी।

लखनऊ प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में सभापति पद से दिये गये अपने भाषण में प्रेमचन्द ने दरबारी परम्परा की धज्जियाँ उड़ाते हुए कहा—'प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृङ्गारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं।'

प्रेमचन्द ने अपने इस भाषण में साहित्य और साहित्यकार की तटस्थता का जोरों से खण्डन किया और शोषकों का साथ छोड़ कर जनता की सेवा करने के लिए आह्वान किया। 'हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक वह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढङ्ग की थी।' यह थी प्रेमचन्द की ललकार जिसके सामने तटस्थता का नारा देने वाले बगलें झाँकने लगे। प्रेमचन्द एक नये युग की देहरी पर खड़े हुए तमाम लेखकों से कह रहे थे—आओ, अपने सौन्दर्य की कसौटी बदलो। जनता की सेवा करके अपने साहित्य को ऊँचा बनाओ। बहुत ही दर्द और जोश के साथ 'गोदान' के निर्माता ने कहा—'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।' प्रेमचन्द के लिए साहित्य, राजनीति और देशभक्ति के आगे जलने वाली मशाल था। साहित्य के प्रति अराजनीतिक और सिद्धांतहीन दृष्टिकोण के वह शत्रु थे। वह सजग राजनीति और उच्चकोटि की देशभक्ति से साहित्य को अनुप्राणित करना चाहते थे। अपनी इस भावना के अनुसार वह 'मंगल सूत्र' में साम्राज्य विरोधी संघर्ष का चित्रण करते हुए स्वयं जीवन-संग्राम में जूझते हुए खेत रहे।

हिन्दी में जो लेखक प्रेमचन्द की क्रान्तिकारी परम्परा को आगे बढ़ा सकता था और उस परम्परा के सबसे निकट था, वह था बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस।'

'पढ़ीस' नाम से वह अवधी में कविताएँ लिखते थे; 'लामजहब' नाम का एक कहानी संग्रह उनका प्रकाशित हुआ था। इस व्यक्ति में साम्राज्य-विरोधी सामन्त विरोधी भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। उसने एक सामन्ती राज्य की नौकरी छोड़ी, रेडियो स्टेशन से इस्तीफा दिया। ब्राह्मण कुल में 'दाग लगाकर' हल जोतकर' परिवार का पालन किया और अन्त में हल से घायल होकर अकाल ही जीवन लीला समाप्त कर दी। दीक्षित जी की शैली जितनी सीधी, उतनी ही सशक्त, जितनी चित्रमय, उतनी ही व्यंग्यपूर्ण, जितनी ही संयत, उतनी ही क्रांतिकारी थी। वह हिन्दी में भारतेन्दु, प्रेमचन्द और निराला की बराबरी के शैलीकारों में से थे। समाज सेवी प्रकाशकों ने जब भारतेंदु के निबन्धों का ही कोई संग्रह अभी तक नहीं निकाला, तब पढ़ीस के लेखों और स्केचों के संग्रह की बात ही क्या !

हिन्दी के लेखक जब भी किसान जनता के नजदीक जायँगे, जनसाधारण की इज्जत करना सीखेंगे, किसानों से सीखकर अत्यन्त नम्रभाव से उनकी सेवा करने का व्रत लेंगे, तब बलभद्र दीक्षित में उन्हें उसी राह पर आगे चलने वाला एक सैनिक दिखाई देगा और वे उनके जीवन और कला दोनों से प्रेरणा पायेंगे। नरेन्द्र शर्मा ने ठीक लिखा था—

'वह हिन्दी का लेखक था,
खून तपा कर लिखता था !
तन जर्जर, मन जोशीला,
तन टूटा, मन अडिग रहा !
होरा मन पर घन बरसे,
एक बार उफ़ नहीं कहा !
सूख चुका प्यारा पौदा,
नयी पौद पर लगा गया !
सूक सुबह को डूब गया,
आता है दिन और नया !'

उपन्यास लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा ने जनता को निकट से देखते-

परखते हुए अपने राजनीतिक और सामाजिक उपन्यासों में बुन्देल-खंड के किसानों का चित्रण किया। वर्मा जी में कहीं-कहीं रोमांटिक सौंदर्य के कल्पना लोक में उड़ान भरने की प्रवृत्ति है तो कहीं-कहीं पुनरुत्थानवाद की छाया भी उन पर पड़ती दिखाई देती है। फिर भी बुन्देलखंड की ग्रामीण जनता किसी के कथा-साहित्य में अवतरित हुई है तो वर्मा जी के उपन्यासों में। 'झाँसी की रानी' में उनकी साम्राज्य-विरोधी चेतना देखते ही बनती है। उन्होंने नानासाहब जैसे सामंतों को जरा भी माफ नहीं किया जो अपने सुख-चैन को देश की आजादी से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। 'झाँसी की रानी' का मुख्य पात्र है झाँसी की जनता जिसके अनेक सुन्दर चित्र इस उपन्यास में मिलते हैं।

प्रेमचन्द के निधन के बाद संसार में एक महान् घटना घटी—दूसरा महा-युद्ध। विश्व साम्राज्यवाद का सङ्कट गहरा हुआ। हिन्दुस्तान में स्वाधीनता-आंदोलन छेड़ने की माँग होने लगी। कांग्रेसी नेताओं ने व्यक्तिगत सत्याग्रह के मार्ग पर चल कर साम्राज्यवाद को असमञ्जस में न डालने की नीति अपनाई। सन् '४१ में हिटलर ने सोवियत सङ्घ पर हमला करके विश्वविजय का अभियान शुरु किया। जिस रूसी क्रांति ने विश्व-साम्राज्यवाद में पहली दरार डाली थी, उस रूसी क्रांति के फल को नष्ट करने के लिए खूनी फासिज्म ने यह हमला किया था। हिन्दुस्तान के लोग चाहते थे कि अपनी आजाद हुकूमत बना कर सोवियत सङ्घ का साथ दें। अंग्रेज यह कब चाहते थे। उन्होंने बर्बर दमन के जरिये जनता के विरोध को कुचल दिया। किसान-क्रान्ति को धुरी न बनाने की वजह से और दुनियाँ की फासिस्ट विरोधी जनता के सङ्घर्ष से अलग हो जाने के कारण इस साम्राज्य-विरोधी मुहिम का जल्द खत्म हो जाना लाज़मी था।

साम्राज्य विरोधी लड़ाई का रास्ता छोड़ने का मतलब है—आपसी दङ्गा-फ़साद, क़त्लेआम और साम्राज्यवाद की मदद—यह सबक हमें स्वाधीनता-आन्दोलन से मिलता है।

प्रेमचन्द के निधन से १५ अगस्त सन् ४७ तक एक युग समाप्त होता है। इस बीच में यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, दिनकर, सुमन, नरेन्द्र, आदि-आदि लेखकों की नयी-नयी रचनाएँ

हमारे सामने आई। युद्धजनित परिस्थितियों ने रीतिकालीन रूढ़िवाद को दफ़ना दिया और लेखक खुलकर निराशावाद, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद के खेमे में या समाजहित, साम्राज्यविरोध, आशावाद के खेमे में खड़े होने लगे। खास तौर से बङ्गाल के अकाल ने उन साहित्यकारों को भी कल्पनालोक से निकलने पर मजबूर किया जो साहित्य को अशाश्वत सामाजिक समस्याओं से दूर रखने के पक्ष में थे। सोवियत सङ्घ की विजय ने जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्यवाद को दुनिया के नक्शे से मिटाकर विश्व पूँजीवाद में दूसरी जबर्दस्त दरार डाली इसका असर हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। खास तौर से एशिया के जन अन्दोलन ने हमारे लेखकों को अनुप्राणित किया और उन्होंने उस पर अनेक सुन्दर कविताएँ लिखीं। साम्राज्यवाद की साम्प्रदायिक दंगोंवाली नीति का उन्होंने तीव्र विरोध किया।

सन् '४७ में अहिंसावाद के प्रताप से हमें स्वाधीनता मिली। अङ्गरेज़ों का हृदय-परिवर्तन हो गया। लेकिन इसके भी पहले अमरीकी साम्राज्यवादी हृदय परिवर्तन करके फिलिपिन को आजाद कर चुके थे। सन् '४७ के आसपास अंगरेजों ने बर्मा को भी आज़ाद कर दिया, पाकिस्तान को तो पैदायशी आज़ादी दी, उधर डचों ने इन्डोनीशिया को आजाद कर दिया। साम्राज्यवादी खेमे में अहिंसावादी आजादी की बाढ़ आ गई। कहाँ सोवियत रूस ने सन् '१७-'२० और सन् '४१-'४५ के दो घनघोर संग्रामों द्वारा साम्राज्यवादी खेमे में दरार डाली थी, कहाँ अहिंसावाद के प्रताप से अंग्रेज और अमरीकी साम्राज्यवादी—हर जगह आज़ादी पर आज़ादी दिये चले जा रहे थे! सिर्फ़ मलाया की जनता को रूस से बचाने के लिए अंगरेज अब भी वहाँ लड़ रहे हैं, वियतनाम को रूस से बचाने के लिए फ्रांसीसी वहाँ लड़ रहे हैं, कोरिया को रूस से बचाने के लिए वहाँ अमरीकी और उनके साथ आज़ादी बख़्शने वाले अंगरेज लड़ रहे हैं।

तीसरे महायुद्ध का ज्वालामुखी फूट रहा है—एशिया की धरती पर, यहाँ की जनता को साम्राज्यवाद का ग़ुलाम बनाकर रखने के लिए!

अगस्त सन् '४७ से अगस्त सन् '५० तक के तीन वर्षों में हिन्दुस्तान की जनता ने बहुत से सबक सीखे हैं। सन् '४७ की आजादी किस तरह की

आजादी है, किसको मिली है, किसे उससे फायदा है, इसे वह तजुर्बे से देख चुकी है। तजुर्बा सिखा रहा है कि जनता का संयुक्त मोर्चा ही सुराज कायम कर सकता है और जनता के दुख-दर्द दूर कर सकता है। और इस संयुक्त मोर्चे को सामना करना है देशी सामन्तशाही का, साम्राज्यवादियों से गठबन्धन करने वाले बड़े पूँजीपतियों का और हिन्दुस्तान में मौजूद ब्रिटिश—अमरीकी पूँजी का भी जिसकी हिफाजत करने के लिए साम्राज्वादी कुछ भी उठा न रखेंगे।

पिछले वर्षों का साहित्य जनता के कटु अनुभवों का साहित्य है। इस बीच में कुछ लेखक आराम की जगहें खोजते हुए—अपनी सुविधा के अनुकूल साहित्य के सिद्धान्तों की जय बोलते हुए—शासकवर्ग के चाटुकार बन गये हैं। वे चाहे जितना चैतन्य और प्रकाश की बातें करें, वे हैं अन्धकार में ही। वे चाहे जितना प्राचीन संस्कृति की दुहाई दें, वे हैं संस्कृति के दुश्मन ही। दिन पर दिन साम्राज्यवाद से समझौता करने वाले नेताओं का पर्दाफाश होता जाता है और लाठी, गोली, भुखमरी के राज की हिमायत करके आज कोई भी साहित्यकार के लिए तटस्थ रहना नामुमकिन है। उसमें जरा भी इमानदारी बाक़ी होगी तो उसे जनता का साथ देना होगा।

हिन्दुस्तान की जिस धरती ने तुलसी, सूर, भारतेन्दु, रवीन्द्र और प्रेमचन्द्र को पैदा किया है, वह ज्यादा दिन तक भुखमरी और गुलामी के जुए के नीचे नहीं पिस सकती। आज एशिया की जनता अपने भाग्य का निर्माण स्वयं अपने हाथों कर रही है।

चीन के विजयी स्वाधीनता संग्राम ने एशिया में साम्राज्वाद का तख्ता पलट दिया है और विश्व-साम्राज्यवाद में तीसरी जबर्दस्त दरार डाल दी है। हिन्दुस्तान की जनता के साथ संसार की तमाम जनता है जो युद्ध नहीं चाहती, शान्ति चाहती है, जो गुलामी नहीं चाहती है, जो अशिक्षा और बेकारी नहीं चाहती—रोटी, रोजी और शिक्षा चाहती है। स्थायी शान्ति और सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तानी जनता की एकता उसे नये सुखी जीवन की तरफ ले जायगी और तमाम साम्राज्य विरोधी लेखक उसका साथ देंगे।

# साहित्य और सामयिकता

'अमर' कलाकारों के लिए साहित्य और सामयिकता की समस्या नयी नहीं है। समाज की अवस्था बदलती रहती है, और इसी परिवर्तन-क्रम के बीच में साहित्यकार भी रहता है। उसे भय होता है कि बदलती हुई अस्थायी चीजों के बारे में लिखने से कला की अमरता में बट्टा न लग जाए। इसलिए साहित्य के धुरंधर आचार्य उन तत्वों को ढूँढ़ निकालने की कोशिश करते हैं जिनसे अमर पद प्राप्त करने में कोई दुविधा न रह जाये। इसके लिए वे बड़े-बड़े लक्षण-ग्रन्थों की सृष्टि करते हैं, कविता-कामिनी को नियम-उपनियमों से यों बाँध देते हैं कि पहचानने में भूल की कोई गुञ्जाइश ही न रहे। वे और सब बातें तो देखते हैं, भूत और भविष्य तो उनके लिए हस्तामलकवत् होता है; वे केवल एक चीज नहीं देखते—समय के प्रवाह को, समाज की गति को। इसका परिणाम यह होता है कि शाश्वत सौन्दर्य की खोज करने वाले ऐसी अशाश्वत कौड़ी लाते हैं कि कुछ निठल्ले लोगों के सिवाय और कोई भी उनकी रचनाएँ नहीं पढ़ता। यह स्पष्ट है कि हम टिकाऊ और प्रभावशाली साहित्य की रचना तभी कर सकेंगे जब समाज की गतिविधि को पहचानेंगे, समाज के प्रगतिशील वर्ग से नाता जोड़ेंगे, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का विरोध करेंगे और अपनी रचना द्वारा समाज की प्रगति में सहायक होंगे।

हिन्दी साहित्य में जब से प्रगतिवाद की चर्चा शुरू हुई है, तब से लोगों ने इस समस्या की ओर विशेष ध्यान दिया है। अधिकांश लेखकों ने अनुभव किया है कि वे सामाजिक घटनाओं और सामाजिक परिवर्तनों पर लेखनी न उठायेंगे तो पीछे रह जायेंगे और उनका साहित्य निर्जीव हो जायेगा। इस चेतना के फलस्वरूप कल्पना-लोक के निवासी भी संघर्ष की धरती पर उतर आये हैं। पिछले दस साल में जो साहित्य रचा गया है, वह अपने समय की प्रमुख

घटनाओं और सामाजिक परिवर्तनों का अच्छा-खासा प्रतिबिम्ब है। जो लेखक इस सामाजिक-क्रम में गहरे पैठ सका है, वह टिकाऊ साहित्य दे पाया है। जो कलाकार समुद्र के किनारे शाश्वत सौन्दर्य के पत्थरों से खेलते रहे, उनकी बुरी दशा हुई। उनकी मिसाल से यह साबित हो गया कि तमाम लक्षण-ग्रन्थ रट लेने और कला की बारीकियाँ समझ लेने पर भी कोई लेखक महान् कलाकार नहीं हो सकता जब तक कि सामाजिक गतिविधि से उसके साहित्य का गहरा सम्बन्ध न हो।

आज हमारे देश में एक अभूत-पूर्व क्रान्तिकारी उठान दिखाई दे रहा है। बम्बई के नाविक-विद्रोह से लेकर कलकत्ते की ट्राम-हड़ताल तक समस्त घटना-क्रम यही बताता है कि हम एक नये युग में प्रवेश कर रहे हैं। जनता में नया साहस, नयी चेतना जग रही है। ऐसी हालत में हमारा साहित्य इस क्रांतिकारी उठान के पीछे घिसटता हुआ चलेगा या उस पर हावी होकर सचेत प्रयत्न द्वारा उसे सही दिशा में आगे बढ़ायेगा? पिछले दस वर्षों में हिन्दी साहित्य की जो धारा रही है, उसे देखते हुए इस प्रश्न का एक ही उत्तर दिया जा सकता है, हमारा साहित्य पीछे नहीं रहेगा। कल्पना लोक के सपने देखने के दिन बीत गए हैं। अगर आगे नहीं तो कम से कम क्रांतिकारी उठान के साथ कदम मिला-कर तो वह चलेगा ही। आज भी ऐसी बहुत-सी कहानियाँ और कवितायें लिखी जा रही हैं जिन पर इस क्रान्तिकारी परिवर्तन की छाप रहती है।

लेकिन इसी समय कुछ संशय के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। हिन्दी साहित्य को ही नहीं, प्रगतिवाद को भी 'सामयिकता के दलदल' से निकलने की भगीरथ चेष्टा दिखाई देती है। मार्क्सवादी आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित 'साहित्य की परख' नाम के लेख में कुछ इस तरह की बातें कही हैं। उनकी समझ में प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कुत्सित समाज-शास्त्र से प्रभावित रहा है, इसलिए वह कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन बन कर रह गया है। इसलिए उसका मूल्य नगण्य है। किसी संकट या संघर्ष के समय जैसे कोई पार्टी प्रचार-साहित्य लिखता है, वैसे ही पिछले दिनों का प्रगतिशील साहित्य विशेष घटनाओं से जुड़ा हुआ है। अगर इन

घटनाओं से अलग करके उसे देखा जाय तो उसे साहित्य नहीं कहा जा सकेगा। 'प्रगतिवाद की विचारधारा भी उन्हीं परिस्थिति-जन्य अपीलों के समान है।' मुसीबत यह है कि यह अपील-साहित्य हिन्दी या हिन्दुस्तान तक सीमित नहीं है। दुनियाँ के जाने-माने क्रान्तिकारी कलाकार भी इसकी चपेट में आकर अमर कीर्ति से हाथ धो बैठते हैं। मिसाल के लिए दुनियाँ की दो बड़ी फ्रान्सीसी और सोवियत क्रान्तियों से वोल्तेयर और गोर्की का सम्बन्ध रहा है। ये दोनों कलाकार क्रान्ति के समर्थक होने के नाते संसार में पूजे जाते हैं। लेकिन आलोचक चौहान का कहना है—'उदाहरण के लिए रूसी और वोल्तेयर ने अथवा आधुनिक काल में ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रान्तियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं या आयर्लैंड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छपवा कर बाँटी, आज उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा है।

आलोचक को बताना चाहिये कि रूसी, वोल्तेयर और गोर्की की इन क्रान्तिकारी रचनाओं का महत्व नहीं है तो उनकी किन रचनाओं में 'सौन्दर्य निरूपक दृष्टिकोण परिलक्षित' होता है। सोवियत रूस के कुछ मार्क्सवादी गोर्की को इसलिए भी महान् साहित्यिक मानते हैं कि उसने अपने साहित्य द्वारा सोवियत-क्रान्ति में मदद दी थी। इस तरह के मार्क्सवादियों में मालोतोव भी हैं। उन्होंने गोर्की के बारे में कहा था—'हमारी क्रान्ति पर अन्य सभी लेखकों से गोर्की की कलात्मक रचनाओं का प्रभाव अधिक शक्तिशाली और प्रत्यक्ष हुआ है। और यही कारण है कि हमारे देश में और सारी दुनियाँ की श्रमिक-जनता की दृष्टि में गोर्की सर्वहारा-साहित्य, समाजवादी साहित्य का सच्चा जन्म-दाता है……कलाकार और साहित्यिक लोग गोर्की से सीख सकते हैं कि शब्दों में कौन-सी शक्ति आ जाती है जब वे मनुष्य के सुख के लिए संघर्ष में काम आते हैं और जन-साधारण के हृदय तक पहुँचते हैं।……गोर्की श्रमिक जनता का सबसे बड़ा मित्र था। समाजवाद लाने के लिए जो संघर्ष होता था, उसे वह प्रेरणा देता था।……लेनिन के बाद गोर्की की मृत्यु हमारे देश और मानवता की सबसे बड़ी क्षति है।'

इन शब्दों से स्पष्ट है कि गोर्की का महत्व मानव-संघर्ष में भाग लेने से कम नहीं हुआ बल्कि और बढ़ गया है। लेकिन चौहान इस पक्ष में नहीं है कि साहित्य को इस तरह संघर्ष से बाँध दिया जाय। 'साहित्य की परख' से पहले भी उन्होंने 'क्या साहित्य प्रौपेगन्डा है' लेख में लिखा था—'रूसी क्रान्ति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि साहित्य वर्ग युद्ध का एक हथियार है। यह एक गलत नारा था। किन्हीं खास परिस्थितियों में कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए, यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि उन परिस्थितियों की तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्य-सङ्गठन करने के उद्देश्य से जनसमूह को प्रेरित करने के लिए ही केवल नारा नहीं लगाया जाता। ऐसा नारा तात्कालिक आवश्यकताओं से इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितिओं के बदलने पर वह एक दम बेकार हो जायगा और कदाचित् नयी परिस्थितियों के विपरीत पड़ कर वह उनके विकास में बाधक हो उठे।' यहाँ पर भी चौहान की वही परेशानी नजर आती है। नारा ऐसा ईजाद किया जाए जो परिस्थितियों के बदलने पर भी शाश्वत बना रहे। यह आश्चर्य की बात है कि चौहान यह सब नुक्ताचीनी मार्क्सवाद के नाम पर करते हैं। उधर कुछ मार्क्सवादी ऐसे हैं जो सोवियत लेखकों तक से इस बात की शिकायत करते हैं कि उन्होंने क्रान्तिकारी आन्दोलन बढ़ाने के लिए यथेष्ट साहित्य क्यों नहीं दिया। दुनियाँ के मजदूर-आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता जार्ज दिमित्रोव ने सोवियत लेखकों की एक सभा में कहा था—'कविता' उपन्यास, कहानी आदि कला कृतियों के रूप में तुम हमें एक तेज हथियार दो जो सङ्घर्ष में काम आ सके। अपनी कला से क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ता बनाने में मदद करो।'

सभी लोग जानते हैं कि लेनिन ने ऐसे साहित्य की माँग की थी जो मजदूर आन्दोलन को आगे बढ़ाए। उन्होंने कहा था—'साहित्य के लिए जरूरी है कि वह सर्वहारा-लक्ष्य का एक अङ्ग बने। मजदूर वर्ग के सचेत अग्रदल ने तमाम सामाजिक ढाँचे में जो गति पैदा कर दी है, साहित्य को उसका अभिन्न अङ्ग बनना चाहिए।' इससे स्पष्ट है कि रूसी, गोर्की या क्रान्तिकारी साहित्य के बारे में चौहान ने जो शंकाएँ या संशोधन पेश किये हैं, वे भ्रामक हैं और

मार्क्सवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण के नाम पर कोई भी साहित्यकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से बरी नहीं हो सकता।

चौहान के उदाहरणों में शेली का नाम भ्रामक रूप से लिया गया है। आयर्लैंड में जाकर शेली ने अपना साहित्य नहीं वितरित किया था बल्कि एक विशुद्ध राजनीतिक अपील बाँटी थी। उसे साहित्य की मिसाल कहना गलत है। राजनीतिक विषयों पर शेली ने और बहुत-सी साहित्यिक रचनाएँ की थीं जिनकी मिसाल देना अधिक उचित होगा। अठारहवीं सदी के भौतिकवाद और फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति का बहुत गहरा असर शेली पर पड़ा था। उसके साहित्य में जो नयी चेतना मिलती है, उसका यही कारण है।

साहित्य को संघर्ष से दूर रखने के प्रयत्न का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि प्रगतिशील साहित्य की कोई जरूरत नहीं रहती और कला के शाश्वत मानदण्डों के अनुसार हर कलाकार प्रगतिशील मालूम होने लगता है। 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन चेष्टा वाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामंजस्य और मुक्तिकामी, निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।' यही दलील अब तक के पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी देते आए हैं। समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए वे बराबर यह दलील देते रहे हैं कि जब सच्ची अनुभूति होगी तब हम साहित्य लिखेंगे और वह अनुभूति चाहे जिस वर्ग के पक्ष में हो, सौन्दर्य-मूलक होने के कारण लोगों को उसका आदर करना ही होगा।

प्रगतिवादी आलोचकों ने इस बात पर बराबर जोर दिया है कि लेखकों को अपना सामाजिक उत्तरदायित्व समझ कर सचेत रूप से लेखनी चलानी चाहिये। लेकिन चौहान को यह सहन नहीं है कि कलाकार पर किसी तरह का नियंत्रण हो और आलोचक उसे यह बताएँ कि इस विषय पर भी लेखनी उठाने की जरूरत है। वह कहते हैं, प्रगतिवाद यदि साहित्य का नया दृष्टिकोण है तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि समीक्षक साहित्यकार को कलावस्तु या कलारूप सम्बन्धी निर्देश दे।' इसलिये आलोचक का एक ही काम रह जाता

है कि वह कलाकृति का सौन्दर्य-निरूपण मात्र करता रहे। चौहान का दृष्टि-कोण कला, कला के लिए के सिद्धान्तवादियों से मिलता-जुलता है। कला का सौन्दर्य ही मनुष्य को उन्नत और सुसंस्कृत बनाता है; इसलिए हर कलाकृति का सुन्दर होना ही यथेष्ट है, प्रगतिवाद की चर्चा बेकार है। वह कहते हैं—'कलाकृति मनुष्य और चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार अधिक समन्वित मानव मूल्यों का निर्माण करती है। अपने संस्कृति विधायक रूप में कला या साहित्य भी स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः एक कलाकार या उसकी कृति को प्रगतिवादी होना जरूरी नहीं है, अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रख कर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बना दे।'

ध्यान देने की बात है कि एक तरफ़ तो कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और दूसरी तरफ उसका प्रगतिवादी होना भी जरूरी नहीं है। जब हम हर कलाकार को सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से प्रगतिशील मान लेंगे तो जाहिर है कि प्रगतिवाद एक व्यर्थ की चीज बन जायगा। यह सही है कि प्रगतिशील लेखकों को लक्षण ग्रन्थों के उदाहरण नहीं लिखना है। परन्तु इसका यह मत-लब नहीं है कि हम कलाकार की रचना में यह न परखें कि वह प्रगति का समर्थक है या उसका विरोधी! अपने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के कारण चौहान यह नहीं समझते कि साहित्य और कला सर्वसाधारण की वस्तु बनेगी। जीवन संश्लिष्ट है इसलिए साहित्य संश्लिष्ट और क्लिष्ट दोनों होगा (खुद चौहान की शैली इसकी मिसाल है)। उन्होंने आई० ए० रिचार्ड्स के स्वर में मिला-कर यह विचित्र दावा किया है—'जो प्रत्यक्ष और बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकती। कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है, इत्यादि; यह है प्रगतिवाद का फातिहा।

चौहान ने समन्वय की बात भी उठाई है। यदि मार्क्सवाद अधूरा है तो उसे जरूर पूरा करना चाहिए। लेकिन मालूम ऐसा होता है कि मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र के समन्वय का नारा इसलिए बुलन्द किया जा रहा है कि हम सामयिकता की माँग से बच सकें। इस तरह का समन्वय करने की कोशिशें

पहले भी की जा चुकी हैं और जैसे वे पहले विफल हो चुकी हैं वैसे ही हिन्दी में भी, बाबू गुलाबराय के आशीर्वाद के बावजूद भी, वे विफल होंगी। चौहान को समाज-शास्त्र से चिढ़ नहीं है। उनका विरोध कुत्सित समाज-शास्त्र से है। अगर उसका कुत्सितपन दूर कर दिया जाय तो शायद उन्हें वह ग्राह्य हो जाय। पता नहीं वे मनोविज्ञान से किसका समन्वय करेंगे, शुद्ध समाजशास्त्र का या उसके कुत्सित रूप का ? यदि मार्क्सवाद के कुत्सित रूप से ही आपत्ति है तो उसका शुद्ध रूप ग्रहण करने के बाद इस मनोवैज्ञानिक समन्वय की जरूरत नहीं रहती।

देखना चाहिए कुत्सित समाजशास्त्र क्या है। सोवियत लेखकों में इस विषय की काफी चर्चा हो चुकी है। मार्क्सवाद को न समझने से यह भ्रान्ति पैदा होती है, लेकिन उसका समाधान मनोवैज्ञानिक समन्वय नहीं है। ऐतिहासिक विकास क्रम को न समझने से कुत्सित समाजशास्त्री भिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग के प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी कार्यों को नहीं समझ पाते। इससे वे लेखक को उस वर्ग से बाँध देते हैं जिसमें वह पैदा हुआ है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि अभिजात वर्ग में पैदा होकर पुश्किन और तोल्स्तोय जनता के लेखक कैसे बने। इन्हीं के साथी हिन्दुस्तान में भी नहीं समझ पाते कि अमीचन्द के घराने में पैदा होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द किस तरह जनता के लेखक बने। यदि साहित्य-समालोचना में हम छन्द और अलंकारों के अलावा लेखक के भावों और विचारों पर भी ध्यान देंगे तो यह जरूरी होगा कि हम उसके युग की सीमाओं को भी याद रक्खें। ऐसा न करने पर पिछले जमाने के सभी कलाकार समान रूप से प्रतिक्रियावादी नजर आयेंगे। यदि हम उनके भावों और विचारों पर ध्यान न देकर छन्द और अलंकारों की कसौटी पर ही परखेंगे तो वे सब के सब प्रगतिशील भी नजर आ सकते हैं। इसलिए साहित्य-समालोचना में ऐतिहासिक दृष्टिकोण की जरूरत है। पिछले युगों की सीमाओं को देखे बिना हम पुराने कलाकारों की सीमाओं को नहीं पहचान सकते। परिणाम यह होगा कि या तो हम उनके पीछे आँख मूँदकर चलेंगे या फिर उनकी तरफ से बिल्कुल ही आँख मूँद लेंगे। बहरहाल आँख किसी दशा

में खुली न होगी इसलिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण जरूरी है। फ्रांस के प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक जैकदूक्लौस ने बुद्धिजीवियों के बारे में लिखा है—'हर चीज यही साबित करती है कि जो साहित्य मानव इतिहास के निर्माण की व्यंजना करता है या उसका प्रतिबिम्ब होता है, वही टिकाऊ होता है।' इतिहास के निर्माण का यह मतलब है कि युग एक-दूसरे से जुड़े होते हैं और बदलते रहते हैं। हर युग की विचारधारा को समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण होना जरूरी है। इस तर्क को विकृत करके चौहान ने लिखा है कि सापेक्षता-मूलक तर्क-प्रणाली का मतलब यह होता है कि अमुक लेखक अपने युग में प्रगतिशील था अब नहीं रहा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब नहीं है। किसी लेखक के युग सीमाओं को समझने का यह मतलब होता है कि हम अपने युग के लिए उसका महत्व अच्छी तरह जान लें। यही एक तरीका है जिससे हम अपनी प्राचीन परम्परा के प्रगतिशील तत्वों को पहचान सकते हैं। इसे अस्वीकार करने से 'कला-कला के लिए' वाला सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण ही हाथ लगेगा।

प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए चौहान इसी सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का प्रयोग करते हैं। कालिदास का साहित्य क्यों स्थायी है, इसकी व्याख्या करने के लिए उनके युग और समाज की सापेक्ष सीमाओं का निरूपण करना जरूरी नहीं है। यह बताने के लिए हमें उन तत्वों की व्याख्या करनी होगी जिनसे 'कालिदास की रचनाएँ आज भी हमें सौन्दर्य बोध कराती हैं।' आलोचक के लिए जरूरी है कि वह 'आधुनिक चेतना के अनुरूप कालिदास की सर्वाङ्ग पुन-र्सृष्टि करे।' इस पुनर्सृष्टि से नये कालिदास जरूर पैदा हो जायेंगे लेकिन वे ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य न होंगे।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण न होने से कभी-कभी यह गलती भी हो जाती है कि कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर आलोचक हवा में प्रगतिवाद का महल बनाने लगते हैं। हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य पर नजर डालें तो स्पष्ट हो जायगा कि छायावाद के पतन काल में एक साहित्यिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रगतिवाद का जन्म हुआ था। देश के सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और ज्यों-ज्यों यह आन्दोलन क्रान्तिकारी बनता

गया है, त्यों-त्यों प्रगतिवाद का रूप भी निखरा है। चौहान ने प्रगतिवाद के साहित्यिक आन्दोलन को इस ऐतिहासिक दृष्टि से देखने की कोशिश नहीं की। फलतः वे प्रगतिवाद की ऐसी व्याख्यायें करते हैं जिनका हिन्दी साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अपनी पुस्तक 'प्रगतिवाद' के आरम्भ में ही वह कहते हैं— 'प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है, जो पूँजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।' यह 'पूँजीवाद का अन्तिम काल' किन देशों में आया है? इस व्याख्या का हिन्दुस्तान या हिन्दी साहित्य से क्या सम्बन्ध हो सकता है? चौहान उन लोगों में हैं जो 'विरोधी-जन्य गतिशील नैतिकवाद' से कम बात नहीं करते, लेकिन दुर्भाग्य से साहित्य और समाज के बारे में कुछ बहुत ही मोटी बातें भूल जाया करते हैं।

इसलिए जब वे कहते हैं कि प्रगतिवाद को 'निसर्गतः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोणों का समन्वित दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए था,' तब हम समझ जाते हैं कि उनके समन्वय का मतलब क्या है। आज वे फिर साहित्य को सामाजिक संघर्ष से दूर खींचकर व्यक्तिवादी अन्तर्द्वन्द्व के भँवर में डाल देना चाहते हैं। कुत्सित समाज-शास्त्र जरूर गलत है, साहित्य के सौन्दर्य को भुला देना उसके साथ अन्याय करना है, किसी लेखक के लिए यह कहना कि वह कल के लिए प्रगतिशील था, आज उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, गलत है; लेकिन इन बातों का यह मतलब नहीं है कि साहित्य मानव-संघर्ष में मदद न करे, वह मानव विकास का सबसे प्रबल अस्त्र न बने, प्राचीन कलाकारों का मूल्यांकन करते हुए हम उनके भावों और विचारों का ऐतिहासिक महत्व न समझें। चौहान ने कुछ अर्द्धसत्यों की नींव पर एक असत्य को खड़ा कर दिया है। शाश्वत सौन्दर्य की खोज में वह सामयिकता को हिकारत की नजर से देखते हैं। उन्हें यह याद दिलाने की जरूरत है कि सामयिक संघर्ष में आधुनिक साहित्य जितना ही तपेगा, उसका रंग-रूप उतना ही निखरेगा। इस संघर्ष से दूर रह कर यदि लेखक सोने की कलम से भी काल्पनिक सपनों के गीत लिखेगा तो उसकी कलम और साहित्य का मूल्य दो कौड़ी से ज्यादा न होगा।

# शाश्वत सत्य और साहित्य

जिस समाज में वर्गभेद कायम है, उसमें वर्गों से परे होकर किसी शाश्वत साहित्य की रचना करना असम्भव है। सवाल यह है कि तुम किस वर्ग के साथ हो। उस वर्ग के साथ, जो तमाम वर्ग को गुलाम बनाए हुए है या उस वर्ग के साथ जो इस व्यवस्था को बदल कर नया समाज बनाने की क्षमता रखता है और उसके लिए संघर्ष कर रहा है ?

कुछ लोगों का विचार है कि प्रगतिशील साहित्य बदलती हुई परिस्थितियों का चित्रण करता है, इसलिये वह स्थायी साहित्य नहीं हो सकता। अगर उसे स्थायी बनाना है तो उसमें ऐसे सत्य का चित्रण होना चाहिये जो इन बदलती हुई परिस्थितियों से बँधा हुआ न हो, यानी जो शाश्वत हो। शाश्वत सत्य का दावा करने वाले यह भी कहते हैं कि जो प्राचीन साहित्य अमर है, वह शाश्वत सत्य का चित्रण करने से ही अमर हो सका है। इसलिए बदलती हुई परिस्थितियों के चित्रण से बचना चाहिये। जो लोग इन परिस्थितियों को बदलने के लिए साहित्य लिखते हैं, वह उसे प्रचार का माध्यम बना देते हैं—साहित्य साध्य न होकर एक साधन बन जाता है। यह साहित्य का पतन है, कला का ह्रास है और इसलिए साहित्य की प्रतिष्ठा के लिए उसमें शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

शाश्वत सत्य के बारे में मार्क्सवाद की मान्यता क्या है ?

—क्या वह शाश्वत सत्य नाम के किसी सत्य को स्वीकार करता है ?

—क्या मार्क्सवाद के अनुसार बदलने वाली परिस्थितियों को चित्रित करने वाला साहित्य अस्थायी और मरणशील होता है ?

—स्थायी साहित्य रचने के लिए मार्क्सवाद के अनुसार उसमें किस तरह के तथ्यों का चित्रण होना चाहिये ?

इन प्रश्नों पर मार्क्स, ऐंगिल्स, लेनिन, स्तालिन ने काफी प्रकाश डाला है। यहाँ पर विशेष रूप से ऐंगिल्स तथा लेनिन की मान्यताओं का जिक्र करना काफी होगा।

हेगल के दर्शन के क्रान्तिकारी पहलू का उल्लेख करते हुए ऐंगिल्स ने लिखा था—

'सत्य, जिसकी जानकारी हासिल करना दर्शनशास्त्र का काम है, हेगल के हाथों में ऐसे भरे-पूरे दुराग्रहपूर्ण वक्तव्यों का जोड़ [ऐन एग्रीगेट ऑफ फिनिश्ड डागमैटिक स्टेटमेंट्स] नहीं रहा जिसे एक बार आविष्कृत होने पर सिर्फ रट लेना बाकी रह जाता है। अब सत्य उस जानकारी के क्रम में, विज्ञान के उस लम्बे विकास के क्रम में ही निहित था जो ज्ञान के निम्न स्तरों से बराबर ऊँचे स्तरों तक उठता जाता है। यह [ विकास-क्रम ] तथाकथित शाश्वत सत्य का आविष्कार नहीं करता और इस तरह ऐसी जगह नहीं पहुँचता जहाँ से आगे बढ़ने की गुञ्जाइश न हो और जहाँ उसके लिए बस यह काम बाकी रह जाय कि वह हाथ जोड़कर शाश्वत सत्य के दर्शन करता रहे।' ( फ्रेडरिक ऐंगिल्स—लुडविगफाइबास, अँगरेजी संस्करण, पृष्ठ १४ )।

इस प्रकार मार्क्सवाद शाश्वत सत्य की धारणा को अस्वीकार करता है। वह सत्य को ऐतिहासिक विकास-क्रम में देखता है। उसे ऐतिहासिक परिस्थितियों से परे नहीं मानता।

क्या इसका मतलब है कि हर सत्य सापेक्ष होता है, इसलिए निरपेक्ष सत्य की धारणा बिल्कुल झूठी है? अगर सत्य हमेशा सापेक्ष होता है तो उसे असत्य ही क्यों न कहा जाय? मार्क्सवाद के अनुसार सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य में क्या सम्बन्ध है?

लेनिन ने अपनी पुस्तक 'मैटीरियलिज्म ऐण्ड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' में इन प्रश्नों का जवाब दिया है। वह कहते हैं—'भौतिकवादी होने का अर्थ उस वस्तुगत सत्य को स्वीकार करना है जिसे हमारी इन्द्रियाँ प्रकट करती हैं। वस्तुगत सत्य—यानी ऐसा सत्य जो मनुष्य या मानव जाति पर निर्भर नहीं है, स्वीकार करने का मतलब किसी-न-किसी तरह से निरपेक्ष सत्य को ही स्वीकार

करना है।' (पृ० १३१)

निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करने का यह मतलब नहीं है कि मार्क्सवाद उस शाश्वत सत्य की धारणा को सही मानता है जिसे पाने के बाद फिर और कुछ पाना नहीं रह जाता। लेनिन शाश्वत और निरपेक्ष सत्य में भेद करते हुए कहते हैं—'अगर हमें भौतिकवाद को आगे बढ़ाना है तो हमें 'शाश्वत सत्य' ऐसे शब्दों के साथ खिलवाड़ बंद कर देना चाहिये। सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य का सम्बन्ध क्या है, हमें इस सवाल को द्वन्द्वात्मक ढंग से पेश करना और उसका जवाब देना सीखना चाहिये। (उप०)

इस सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं—'मानवीय चिन्तन अपनी प्रकृति से ही यह योग्यता रखता है कि वह निरपेक्ष सत्य है, और उसे वह देता है। यह निरपेक्ष सत्य सापेक्ष सत्यों के जोड़ से मिलकर बनता है। विज्ञान के विकास में हर कदम निरपेक्ष सत्य के जोड़ में कुछ नये कण मिला देता है, लेकिन हर वैज्ञानिक धारणा की सीमाएँ सापेक्ष होती हैं। ज्ञान की वृद्धि के साथ ये सीमाएँ कभी संकुचित, कभी विस्तृत होती हैं।'

(उप० पृ० १३३-३४)

इस प्रकार मार्क्सवाद सापेक्षवाद से भिन्न वस्तु ठहरती है। सापेक्षता को स्वीकार करते हुए भी मार्क्सवाद निरपेक्षता से इनकार नहीं करता। वह सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध कायम करता है। सापेक्ष सत्यों की कड़ी जोड़कर ही निरपेक्ष की प्रतिष्ठा होती है। लेकिन यह निरपेक्ष सत्य अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, उसके सामने हाथ जोड़कर दर्शन करते रहने की नौबत नहीं आती।

केवल मार्क्सवादी पद्धति से चलकर हम निरपेक्ष सत्य के निकट पहुँचते हैं। शाश्वत सत्य का दर्शन कराने वाले सज्जन, सापेक्ष निरपेक्ष के सम्बन्ध को लाँघकर, किसी भी सत्य के दर्शन नहीं करा पाते। लेनिन के शब्दों में—'मार्क्सवाद की राह पर चलकर हम बराबर वस्तुगत सत्य के नजदीक पहुँचते जायँगे, लेकिन यह कभी रीता न होगा (विदआउट एवर एक्जहास्टिंग इट)।'

(उ० पृ० १४२)

इस प्रकार मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य किसी ऐसे शाश्वत सत्य का चित्रण नहीं कर सकता जो सामाजिक परिस्थितियों से परे हो। जिस समाज में वर्ग-संघर्ष कायम है, उसको चित्रित करने वाला साहित्य वर्गों से परे नहीं हो सकता। वर्गहीन विशुद्ध मानवीय साहित्य की रचना तभी हो सकेगी जब समाज से वर्ग निर्मूल हो जायेंगे और उनके आधार पर बने हुए संस्कार भी मनुष्य की चेतना से निकल जायेंगे।

अक्सर ऐसा हुआ है कि लोग एक नये तथ्य का आविष्कार करके उसे शाश्वत कहने लगे हैं। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के रूप में सामन्तवाद के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ था उससे ऐसे अनेक 'शाश्वत' सत्यों की सृष्टि हुई थी। उस समय के अनेक विचारक शाश्वत सत्य के साथ शाश्वत समानता और शाश्वत न्याय की भी प्रतिष्ठा करने लगे थे।

ऐंगिल्स ने इन शाश्वत आविष्कारों की छानबीन करके यह दिखा दिया कि वे ऐतिहासिक परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठे हुए थे। उन्होंने लिखा—'हम आज जानते हैं कि यह विवेक ( रीजन ) का ससार पूँजीवादी वर्ग के 'आदर्श राज्य' के अलावा और कुछ न था। शाश्वत न्याय पूँजीवादी न्याय के रूप में प्रतिफलित हुआ। समानता कानून के सामने पूँजीवादी समानता में सीमित हो गयी और पूँजीवादी सम्पत्ति को मनुष्य के सबसे आवश्यक अधिकारों में घोषित किया गया। विवेक से चलनेवाली सरकार, रूसो का सामाजिक समझौता, एक पूँजीपंथी जनवादी प्रजातन्त्र के रूप में चरितार्थ हुआ, और उसी रूप में वह चरितार्थ हो भी सकता था। १८वीं सदी के महान् विचारक अपने युग की सीमाओं को वैसे ही नहीं लाँघ सके जैसे उनके पहले के विचारक न लांघ सके थे।'

( ऐंटी ड्यूरिंग पृ० ३०-३१ )

आधुनिक समाज का विकास इस पूँजीवादी न्याय और पूँजीवादी समानता से ही सम्भव हुआ है। उसकी सापेक्षता इतिहास के लिए आवश्यक थी। लेकिन उस समय के विचारकों ने इतिहास की सीमाओं को न पहचान कर अपनी धारणाओं को शाश्वत करार दे दिया था।

रोमांटिक साहित्य में, खास तौर से, हम इस शाश्वत के लिए भागदौड़ देखते हैं। शेली शाश्वत सौन्दर्य का दर्शन करने के लिए विकल रहता है। सौन्दर्य की आभा दुःखपूर्ण संसार में उसे जहाँ-तहाँ उभरती हुई दिखाई देती है और फिर हाथ से गायब हो जाती है।

हिन्दी लेखकों पर शेली का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। इसलिए भी शाश्वत सौन्दर्य की धारणा से पीछा छुड़ाने में उन्हें कठिनाई होती है। ऐंगिल्स की निम्न पंक्तियाँ शेली पर बहुत चुस्त बैठती हैं—'अगर शुद्ध विवेक और न्याय से संसार अभी तक शासित नहीं हुआ तो वह इसीलिए कि आदमियों ने उन्हें ठीक-ठीक समझा न था। जिस चीज की कमी थी, वह सिर्फ़ एक प्रतिभा-शाली व्यक्ति था। अब वह प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हो गया है और उसने सत्य के दर्शन भी कर लिए हैं। वह अब पैदा हुआ और इसी खास समय में उसने सत्य के दर्शन किये हैं; यह [उसके लिये] अनिवार्य घटना नहीं है। ऐतिहासिक विकास क्रम में यह कोई लाजिमी कड़ी नहीं है, बल्कि एक सुन्दर आकस्मिक घटना है। यह प्रतिभाशाली व्यक्ति ५०० साल पहले भी पैदा हो सकता था और तब वह मनुष्य जाति को ५०० साल की गलतियों के कष्ट और संघर्ष से बचा लेता...। चूँकि शाश्वत सत्य देश, काल और मनुष्य के ऐतिहासिक विकास से परे हैं, इसलिए यह सिर्फ आकस्मिक बात है कि कब और कहाँ उसका पता लग जाता है।'

(उप० पृ० ३३)

ऐंगिल्स ने यहाँ जिस कल्पनावादी समाजवाद पर व्यंग्य किया है, उससे मिलती-जुलती चीज उन तमाम रोमांटिक कवियों के अन्दर रही है जो फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद साहित्य में शाश्वत सत्य और शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करके दुनियाँ को स्वर्ग बना देना चाहते थे। मार्क्सवाद सिखाता है कि किसी भी मनुष्य के लिए समाज के ऐतिहासिक विकास की सीमाओं को लाँघ जाना असम्भव है। जिस सत्य तक मनुष्य जाति की आगामी लाखों पीढ़ियाँ पहुँचेंगी, उस तक आज ही किसी एक मनुष्य के लिए पहुँच सकना सम्भव नहीं है। या तो हम इससे इन्कार कर दें कि मनुष्य का इतिहास विकास का एक क्रम है या

फिर शाश्वत सत्य की मरीचिका से मुँह फेरना होगा।

एक व्यक्ति ऐसा था जिसने दोनों ही बातें करने की कोशिश की थीं,—मनुष्य के इतिहास को विकास का क्रम भी माना था और शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा भी करना चाहता था। उस व्यक्ति का नाम था हेगल। दोनों धारणाओं में अन्तर्विरोध था, इसलिये उसका दार्शनिक ढाँचा बीच से टूट गया। ऐंगिल्स ने इस अन्तर्विरोध पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि विकास की भावना के साथ शाश्वत सत्य की पटरी क्यों नहीं बैठ सकती।

'एक ओर तो उसकी [ हेगल के दर्शनशास्त्र की ] बुनियादी मान्यता ऐतिहासिक दृष्टिकोण की थी कि मानवीय इतिहास एक विकास क्रम है जो स्वभाव से ही किसी भी तथाकथित शाश्वत सत्य के आविष्कार में बौद्धिक आन्तिकता ( इन्टैलेक्चुअल फाइनैलिटी ) स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन दूसरी तरफ वह इस शाश्वत सत्य का तत्व होने का दावा भी करता था।

'प्राकृतिक और ऐतिहासिक ज्ञान का ऐसा शास्त्र ( सिस्टम ) जो कि सर्व-व्यापी हो और सर्वकाल के लिए आंतिक हो, द्वंद्वात्मक चिन्तन के बुनियादी नियमों के प्रतिकूल है। लेकिन यह द्वन्द्वात्मक चिन्तन इस धारणा का बहिष्कार नहीं करता बल्कि उसे स्वीकार करता है कि समूचे बाह्य संसार का व्यवस्थित ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत बड़े-बड़े कदम रखता हुआ आगे बढ़ सकता है।'

(उप० पृ० ४१)

जो काम हेगल नहीं कर सका, उसे कुछ हिन्दी के समन्वयवादी लेखक करना चाहते हैं। वे एक तरफ तो मार्क्सवाद को मानने का भी दम भरते हैं और मानवीय इतिहास को विकास-क्रम मान लेते हैं। दूसरी तरफ योगी अरबिन्द की मदद से अन्तर्मन की सात परतों में बैठकर शाश्वत सत्य की कौड़ी ले आते हैं। इसमें उन्हें कोई असंगति, कोई अन्तर्विरोध, कोई अवैज्ञानिकता नहीं दिखाई देती।

ऐंगिल्स ने हेगल के दर्शनशास्त्र को एक 'कॉलोसल मिसकैरिज़' कहा था। समन्वयवादी लेखक 'कॉलोसल' भले न हों, लेकिन उनका यह चिन्तन 'मिस-कैरिज' अवश्य ही।

कुछ लोग समझते हैं कि मानवीय चिन्तन ऐसे नियमों से परिचालित हैं जिन पर देशकाल का बन्धेज नहीं है। वे मानवीय चिन्तन की सार्वभौम स्वतन्त्रता का दावा पेश करते हैं। ऐंगिल्स पूछते हैं कि 'मानवीय चिन्तन है क्या ?—क्या वह किसी व्यक्ति विशेष का चिन्तन है ?—नहीं, वरन् वह भूत, वर्तमान और भविष्य के करोड़ों आदमियों के व्यक्तिगत चिन्तन के रूप में ही सामने आ सकता है।'

( उप० पृ० १२९ )

इस रूप में मानवीय चिन्तन की सार्वभौम स्वतन्त्रता स्वीकार की जा सकती है। लेकिन ऐसी स्वतन्त्रता स्वीकार करने से कोई हानि-लाभ नहीं है। व्यक्ति-गत चिन्तन और चिन्तन की सार्वभौम स्वतन्त्रता के बीच में एक अन्तर्विरोध है जो मनुष्य की अनन्त पीढ़ियों के गुजरने से ही हल हो सकता है।

'इस अर्थ में मानवीय चिन्तन की जितनी सार्वभौम स्वतन्त्रता है, उतनी परतंत्रता भी है और ज्ञान के लिए उसकी क्षमता उतनी ही असीम है, जितनी सीमित है। ऐतिहासिक उद्देश्य को देखते हुए, उसकी सम्भावनाओं, प्रवृत्ति और कार्य देखते हुए, मानवीय चिन्तन असीम है और उसकी सार्वभौम स्वतन्त्रता है। साथ ही व्यक्तिगत व्यंजना में और एक निश्चित समय में चरितार्थ होने से मानवीय चिन्तन सीमित है और उसकी सार्वभौम स्वतन्त्रता नहीं है।'

( उप० पृ० १३३ )

यहाँ पर मानवीय चिन्तन की सीमाएँ दिखाते हुए उसके सीमाहीन विकास की ओर भी संकेत किया गया है। दूसरे शब्दों में, ऐंगिल्स ने सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को यहाँ फिर प्रकट किया है। अगर कोई कहे कि मनुष्य जाति शाश्वत सत्यों तक पहूँच जाय, ऐसे परिणामों तक पहुँचा जाय जो त्रिकाल सत्य हों तो दुनिया का क्या होगा ? ऐंगिल्स का जवाब है कि तब मनुष्य जाति 'ऐसी जगह पहुँच जायगी जहाँ बौद्धिक संसार की असीमता व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में खत्म हो जायगी, इसका मतलब यह होगा कि अनगनत को गिन लेने का प्रसिद्ध चमत्कार तब पूरा हो जायगा।'

( उप० पृ० १३०-३१ )

क्या इसका यह मतलब है कि दुनियाँ में कोई भी वस्तु त्रिकाल सत्य नहीं होती ? ऐंगिल्स कहते हैं कि होती है, जैसे कि पेरिस फ्रांस में है, और नैपोलियन ५ मई १८२१ को मरा। लेकिन यह चीज सामाजिक इतिहास पर नहीं लागू होती—'यहाँ का ज्ञान अनिवार्य रूप से सापेक्ष रहता है क्योंकि यह ज्ञान समाज और राज्य-सत्ता के कुछ रूपों के सम्बन्ध और परिणाम पहचान कर चलता है। राज्य-सत्ता और समाज के रूप किसी निश्चित युग में होते हैं, किहीं खास लोगों में होते हैं तथा अपनी प्रकृति से ही अस्थायी होते हैं। इसीलिये जो कोई इस क्षेत्र में आन्तिक और पूर्ण सत्यों को खोजने की कोशिश करेगा, ऐसा सत्य लाने की कोशिश करेगा जो नितांत शुद्ध और पूर्णतः अपरिवर्तनशील हो, उसके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा। बेकार की और छिछली लतरानियाँ जरूर उसके पल्ले पड़ सकती हैं—मसलन आम तौर से कहा जा सकता है कि आदमी बिना श्रम के नहीं जी सकता, अब तक मनुष्य जाति अधिकतर शासक और शासितों में बँटी रही है, नैपोलियन ५ मई १८२१ को मरा था इत्यादि।'
( उप० पृ० १३४ )

इससे जाहिर है कि जो लोग सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हैं, उन्हें इस शाश्वत सत्य की मरीचिक से खास तौर से होशियार रहना चाहिये। जहाँ शाश्वत सत्य की सबसे कम गुञ्जायश है, वहीं उसका दावा भी सबसे ज्यादा किया जाता है। ऐसा ही द्रष्टा ड्यूरिंग था जिस पर ऐंगिल्स ने अपना अशाश्वत ग्रन्थ--किन्तु महान् ग्रन्थ सामाजिक विकास की बहुत बड़ी कड़ी, निरपेक्ष ज्ञान की वृद्धि में एक बहुत बड़ा कण—ऐंटी ड्यूरिंग लिखा था।

सामाजिक क्षेत्र में शाश्वत नैतिकता की भी दुहाई दी जाती है। पाप-पुण्य की धारणाओं को त्रिकाल सत्य मान लिया जाता है। पाप क्या है, पुण्य क्या है, इसके पीछे बहुतों के सर फूट चुके हैं। अगर सब के अंतःकरण में एक ही त्रिकाल सत्य प्रतिष्ठित होता तो सर-फुटौवल की नौबत न आती !

ऐंगिल्स ने नैतिक मूल्यों की छानबीन करके दिखाया है कि ये मूल्य वर्गों से परे नहीं हैं। मनुष्य के नैतिक आधार उन आर्थिक सम्बन्धों से बाहर नहीं हैं जिनके भीतर रह कर मनुष्य उत्पादन और वितरण की क्रिया पूरी करते हैं।

जब आर्थिक विकास की मंजिलें एक-दूसरे से मिलती-जुलती होती हैं तो नैतिक सिद्धान्त भी एक-दूसरे से मिलते-जुलते होते हैं—'जब से व्यक्तिगत सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का विकास शुरू हुआ, तब से उन तमाम समाजों में, जिनमें निजी स्वामित्व कायम था, इन नैतिक नियम का भी समान रूप से मौजूद रहना आवश्यक था कि चोरी करना पाप है। क्या यह नियम, इस तरह से, शाश्वत नैतिक नियम बन जाता है ? नहीं, वह शाश्वत नियम किसी तरह भी नहीं बनता। ऐसे समाज में जहाँ चोरी करने के लिए प्रेरणा का आधार ही खतम कर दिया गया हो, जिसमें अगर चोरी होगी भी तो चोरी करने वाले पागल ही होंगे, ऐसे समाज में उस नीतिशास्त्र के उपदेशक पर लोग हँसेंगे जो बहुत गम्भीरता से इस शाश्वत सत्य का एलान करेगा कि चोरी करना पाप है।'

( उप० पृ० १४० )

इसलिये मार्क्सवाद नैतिकता में भी शाश्वत मान-दन्डों को अस्वीकार करता है। अन्य विचारधाराओं के समान नैतिकता की धारणाएँ भी विकासमान मानव-समाज के इतिहास से परे नहीं हैं। एँगिल्स ने घोषित किया था कि तमाम नैतिक सिद्धान्त बुनियादी तौर से उस आर्थिक मंजिल के परिणाम होते हैं जिस तक एक विशेष युग में समाज पहुँचता है। समाज का विकास वर्ग-संघर्ष के मार्ग से हुआ है, इसलिए नैतिकता भी हमेशा वर्ग-नैतिकता रही है। नैतिकता में उन्नति हुई है, लेकिन उसका वर्ग-रूप खतम नहीं हुआ है।

क्या वर्गों से परे मानवीय नैतिकता का निर्माण असम्भव है ? एँगिल्स का जवाब है कि 'यह समाज की उस मंजिल में ही सम्भव है जहाँ वर्ग-विरोध खतम ही नहीं कर दिये गये बल्कि अमली जिन्दगी में भुला भी दिये गये हैं।' ( उप० पृ० १४१ ) जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक शाश्वत सत्य तो दूर, हम वर्गहीन मानवीय सत्य की बात भी नहीं कर सकते।

साहित्य के लिए एँगिल्स की इन मान्यताओं का बहुत बड़ा मूल्य है, ( भले ही वह मूल्य शाश्वत न हो )। साहित्यकार अपने युग की ऐतिहासिक सीमाओं को लाँघ नहीं सकता वह चाहे भी तो सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण से बच नहीं सकता। जो लोग साहित्य और संस्कृति को राजनीति से स्वतन्त्र

मानते हैं, उन पर सामाजिक प्रतिबन्ध अस्वीकार करते हैं, वे दरअसल शाश्वत सत्य की ही प्रतिष्ठा करने की कोशिश करते हैं। इस तरह वे अपने को और दूसरों को भ्रम में डालते हैं। इस बात का पता लगाने में कोई भी कठिनाई न होनी चाहिए कि संस्कृति को राजनीति से स्वाधीन करार देने वाले ये लोग जरा भी स्वाधीन नहीं हैं, बल्कि इससे उलटा एक विशेष प्रकार की राजनीति जबर्दस्त गुलाम हैं। यह राजनीति सामन्ती और पूँजीवादी वर्गों की है। उस पर पर्दा डालने के लिए संस्कृति के स्वाधीन होने की बात कही जाती है।

श्री० सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक भौतिकवाद को अधूरा मानते हैं। उसको भरापूरा बनाने के लिए वे उसे अध्यात्मवाद से मिलते हैं। वह अपनी संस्कृति को धर्म और राजनीति के बीच की चीज कहते हैं। एकांगीपन से* बचने के लिए वह 'मध्यवर्त्ती पंथ' अपनाते हैं।

संस्कृति क्या है, इस पर पन्तजी के अनुसार एक महान् ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है, हालाँकि फिर भी उसके साथ यथेष्ठ न्याय न होगा। उस ग्रन्थ के अभाव में पन्तजी के सांस्कृतिक दृष्टिकोण की विशेषता इन वाक्यों से प्रकट हुई समझनी चाहिये—'और अभी मैं अन्तर्चेतना, अंतर्विश्वास और सहजबोध के बारे में जो कह चुका हूँ, उनके अस्तित्व के बारे में भी कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। संस्कृति के आधारों तथा मान्यताओं की बात भी मुझे कुछ ऐसी ही लगती है।' ( सङ्गम १६ सितम्बर, १९४८ )।

इससे नतीजा यह निकलता है कि पन्तजी की संस्कृति राजनीति से ही

---

* 'आधुनिक भौतिकवाद हमें, मध्ययुगीय भारतीय दार्शनिकों के आत्मवाद की तरह, अपने युग के लिए एकांगी तथा अधूरा लगता है। मानव जीवन के रूपों को अखंडनीय ही मानना पड़ता है, उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते···। सांस्कृतिक संचरण न राजनीति की तरह समबल संचरण है और न धर्म अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण। वह इन दोनों का मध्यवर्ती पंथ है। ( श्री० सुमित्रा नन्दन पन्त, सांस्कृतिक आन्दोलन—क्यों, कैसा ? सङ्गम,' १६ सितम्बर, १९४८ )।

स्वतन्त्र नहीं, वह बुद्धि से भी स्वतंत्र है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में मन, चेतना, अनुभूति आदि शब्दों का जैसा प्रयोग किया गया है, उससे यह विश्वास पक्का हो जाता है कि उनके लिए शब्द अर्थ से मुक्त हो गये हैं।

पन्तजी संसार के राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलनों से बेखबर नहीं हैं। खबर तो है, लेकिन उनका 'सहज बोध' जनवादी शक्तियों के सङ्घर्ष को और साम्राज्यवादी युद्ध को एक ही तराज़ू में तौलना है। उनके लिए यह सब पार्थिव सत्ता के स्वाभाविक विस्फोट हैं, इसलिये अपने स्थान पर इनकी उपयोगिता भी सिद्ध है।

पन्तजी का सर्वनाम 'इनकी' दोनों के ही लिए आता है, जनवादी शक्तियों के लिए भी और साम्राज्यवादी दल के लिए भी। पन्तजी ने यह साफ साफ नहीं बताया कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी जगह पर किस उपयोगिता को सिद्ध कर रही हैं। उन्होंने चीन, हिन्दुस्तान जैसे देशों को पूँजीवादी राष्ट्रों और साम्यवादी रूस, 'दोनों सशक्त सङ्गठनों के भले-बुरे परिणामों से प्रभावित तथा संत्रस्त' बतलाया है। इस तरह साम्राज्यवाद और समाजवादी देशों के भले-बुरे प्रभाव का उल्लेख करके वह अपने मध्यवर्त्ती पन्थ को राजनीति पर भी लागू करते हैं।

पन्तजी के शब्दों में उनकी बात इस प्रकार है—'इस युग में हमने विज्ञान द्वारा चेतना के निम्नतम धरातल पर ही—जिसे पदार्थ या भूत कहते हैं—अधिक प्रकाश डाला है। और भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक रसायनिक शक्तियों पर अपना आधिपत्य जमा लिया है जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव जीवन की भौतिक एवं आधुनिक अर्थ में सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय और सशक्त हो गयी हैं। और जीवन की इन सबल बाह्य गतियों का नये ढंग से सङ्गठन करने के लिए आज संसार में नवीन रूप से राजनीतिक आर्थिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव, लोक, शक्तियों का संघर्ष तथा महायुद्धों का हाहाकार बढ़ रहा है। यह राजनीतिक आर्थिक आन्दोलन हमारी पार्थिव सत्ता के विप्लव और विस्फोट हैं। वस्तु-सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिये इनकी अपने स्थान पर उपयोगिता भी सिद्ध ही है। फलतः आज हमारा पदार्थ

जीवन भौगोलिक दृष्टि से मुख्यतः तीन विभागों में विभक्त हो गया है। एक ओर पूँजीवादी राष्ट्र हैं, दूसरी ओर साम्यवादी रूस और तीसरी ओर चीन, हिन्दुस्तान जैसे वे छोटे-बड़े देश जिनका निर्माण काल अभी प्रारम्भ ही हुआ है या नहीं हुआ है और जो उपर्युक्त दोनों सशक्त संगठनों के भले-बुरे परिणामों से प्रभावित तथा संत्रस्त हैं।' ( उप० )

ये वाक्य पन्तजी का राजनीतिक दृष्टिकोण जाहिर करने के लिए काफी हैं। वे दुनियाँ को पूँजीवाद, समाजवाद और मध्य पथ के तीन भागों में बँटा हुआ देखते हैं। यह साहस पन्तजी में ही था कि वे इस बँटवारे को भौगोलिक कहें। पूँजीवाद राष्ट्रों और साम्यवाद रूस के बीच की खाई ऐतिहासिक न होकर भौगोलिक हो गयी है। दुनियाँ दो कैम्पों में ही नहीं बँटी हुई है ; साम्राज्य-विरोधी और साम्राज्यवादी दलों के अलावा एक तीसरा दल उन देशों का भी है जिनका निर्माण काल अभी प्रारम्भ ही हुआ है। इसी तीसरे दल में हिन्दुस्तान है। [ निर्माण काल के प्रारम्भ में ही उत्पादन न बढ़ा कर कुछ सिर फिरे लोग वर्ग सङ्घर्ष की बात करने लगते हैं। उगते हुए राष्ट्र के साथ कैसा अन्याय है ! ] संसार के राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन ऐतिहासिक विकासक्रम के अङ्ग नहीं हैं, वे पार्थिव सत्ता के स्वभाविक विस्फोट हैं। अगर आप अपार्थिव सत्ता की सतह पर पहुँच जायँ तो संस्कृति के हवाई महल में इन विस्फोटों से बच सकते हैं। विज्ञान ने चेतना के निम्नतम धरातल यानी भूत या पदार्थ पर ही अधिक प्रकाश डाला है। इसलिये पन्तजी के अनुसार चेतना से प्रकृति बनती है। प्रकृति उसका सबसे निचला रूप है; शुद्ध रूप तो अन्तर्चेतना में है जो बुद्धि से परे है।

पंतजी के दर्शन में मार्क्सवाद से समन्वय नहीं किया गया, बल्कि समन्वय के नाम पर उसकी जगह अंधविश्वासों को प्रतिष्ठित किया गया है। पंतजी की अन्तर्चेतनावादी संस्कृति पहचानती है कि संसार में लोकतंत्रवादी शक्तियों का सङ्घर्ष भी है और महायुद्धों का हाहाकार भी है। लेकिन इन दोनों के बीच में उनका कवि कर्तव्य कहाँ है, इस पर वह प्रकाश नहीं डालते। यह बात नहीं है कि वह राजनीतिक सवालों को उठाते नहीं। राजनीतिक ही नहीं, वे आर्थिक

प्रश्न भी उठाते हैं; लेकिन उन प्रश्नों का जो समाधान वे करते हैं उससे किस वर्ग का भला होता है, यह देखना कठिन नहीं है—

'भर देगा भूखी जनता को अन्तर्जीवन प्लावन
मनुष्यत्व को करो समर्पित खंडित तन कवलित मन।' और भी—
'आवें प्रभु के द्वार
जो जीवन में परितापित हैं,
हतभागे हताश शापित हैं।' इत्यादि

'स्वर्णधूलि' की कई रचनाओं में उन्होंने लोकशक्तियों के संघर्ष की बात उठाई है। संघर्ष करने वाली जनता को उन्होंने यही उपदेश दिया है कि वह संघर्ष का रास्ता छोड़कर वर्ग-सहयोग के रास्ते पर चले। परम पिता परमात्मा की सन्तान पूँजीपति और मजदूर दोनों ही हैं। इसलिए दोनों को चाहिए—खास तौर से मजदूरों को चाहिए—कि लड़ाई-झगड़ा छोड़कर प्रेमपूर्वक रहें।

मार्क्सवाद को तिलांजलि देकर पंतजी के पास आज यही राजनीति रह गई है कि वह जनता को पूँजीवाद की गुलामी करना सिखायें। संस्कृति का कवच पहनकर वे पूँजीवाद की परिस्थितियों से ऊपर उठना चाहते हैं। भूत और अध्यात्म के बीच में वह मध्यवर्त्ती मार्ग से यात्रा करना चाहते हैं। उनकी राजनीति पुकार-पुकार कर कह रही है कि यह मध्यवर्त्ती मार्ग पूँजीवादी मार्ग के अलावा और कुछ नहीं है।

इसलिए संस्कृति को राजनीति से स्वतंत्र रखने का दावा केवल एक भुलावा है।

संस्कृति और साहित्य के नाम पर जो अधिकांश कलाकार अपने मध्यवर्त्ती होने या राजनीति से स्वतंत्र होने का दावा करते हैं, वे ऐसी राजनीति को छिपाते हैं जो देखने में बहुत सुघर नहीं मालूम होती।

१९०५ में लेनिन ने सर्वहारा उद्देश्य की पूर्ति के लिए पार्टीजन साहित्य की माँग की थी। मार्क्स और एंगिल्स को उन्होंने पार्टीजन दर्शनकार बताया था जो सर्वहारा उद्देश्य के लिए बिना कभी विचलित हुए लड़ते रहे थे। जिस समाज में वर्ग भेद कायम हो, उसमें वर्गों से परे होकर साहित्य रचना नामुमकिन है। सवाल यह है कि तुम किस वर्ग के साथ हो, उस वर्ग के साथ जो तमाम

समाज को गुलाम बनाये हुए है या उस वर्ग के साथ जो इस व्यवस्था को बदल कर नया समाज बनाने की क्षमता रखता है और उसके लिए लड़ भी रहा है।

इन दोनों के बीच में मध्यवर्त्ती मार्ग चुनना नामुमकिन है। आज एक बहुत बड़े पैमाने पर साम्राज्यवादी ताकतों और साम्राज्य विरोधी जनता के बीच सङ्घर्ष छिड़ा हुआ है। यह सङ्घर्ष मनुष्य जाति के इतिहास में एक विराट् और व्यापक परिवर्तन करने जा रहा है। उसे वस्तु-सत्ता का स्वाभाविक विस्फोट कहकर टाल देना अपने और दूसरों को छलने के अलावा और कुछ नहीं है।

यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न सामने आता है—यदि साहित्य और संस्कृति वर्गों से परे नहीं है तो वर्गहीन समाज में उनका मूल्य क्या होगा ? अगर साहित्य किसी विशेष समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, तो उस व्यवस्था के बदलने पर उसका क्या मूल्य रहेगा ?

इसका उत्तर यह है कि समाज का इतिहास उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। अगर विकास-क्रम के पिछले तत्त्वों को हम छोड़ देते हैं तो अगली शृङ्खला जोड़ी नहीं जा सकती। इसलिए लेनिन ने पुरानी संस्कृति के मूल्यांकन पर इतना जोर दिया था। इस मूल्यांकन की सबसे अच्छी मिसाल उन्होंने मार्क्स-वाद को ही बताया था—'मार्क्सवाद इस बात की मिसाल है कि मानव ज्ञान के जोड़ से किस तरह कम्युनिज्म की उत्पत्ति हुई। तुमने पढ़ा है और सुना है कि कम्युनिस्ट सिद्धान्तों का—कम्युनिज्म के विज्ञान का निर्माण मुख्यतः मार्क्स ने किया था। यह मार्क्सवाद के सिद्धान्त १६वीं सदी के किसी एक सोशलिस्ट की सृष्टि नहीं रह गये, चाहे वह महान् प्रतिभाशाली ही रहा हो। ये सिद्धान्त तमाम दुनियाँ में उन लाखों और करोड़ों सर्वहारा के सिद्धान्त बन गये हैं जो इन्हें पूँजीवाद के खिलाफ अपने सङ्घर्ष में लागू कर रहे हैं। और अगर तुम पूछो कि मार्क्स के इन सिद्धान्तों ने सबसे क्रान्तिकारी वर्ग के लाखों और करोड़ों आदमियों के दिल में क्यों जगह बना ली है तो तुम्हें इसका एक ही जवाब मिलेगा। यह इसलिये मुमकिन हुआ कि पूँजीवाद के कायम रहते हुए जो कुछ मानव ज्ञान संचित किया गया था, उसकी मजबूत बुनियाद पर मार्क्स ने अपने पाँव रोपे थे। मानव समाज के विकास के नियमों का अध्ययन करके मार्क्स ने

अनुभव किया था कि पूँजीवाद का विकास अनिवार्य ढंग से कम्युनिज्म की तरफ हो रहा है। और मुख्य बात यह थी कि उन्होंने पूँजीवादी समाज का अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त विस्तृत और सही-सही अध्ययन करके ही इस बात को सिद्ध किया था। और ऐसा वे इसीलिए कर सके थे कि उनके पहले के विज्ञान ने जो कुछ सिखाया था, उसे उन्होंने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। मानव समाज ने जो कुछ भी बनाया था, बिना कोई भी चीज छोड़े हुए उन्होंने आलोचनात्मक ढंग से उसे एक नया रूप दिया था। मानव-चिन्तन ने जो कुछ बनाया था, उसे उन्होंने नया रूप दिया, उसकी आलोचना की, मजदूर आन्दोलन की कसौटी पर उसे परखा, और उसमें ऐसे नतीजे निकाले जिन्हें पूँजीवादी सीमाओं या पूँजीवादी दुराग्रहों से बँधे हुए लोग न निकाल पाये थे।' (नौजवान सभाओं का कर्त्तव्य, अक्टूबर, १९२०; मार्क्स ऐंगिल्स मार्क्सिज्म, अँगरेजी संस्करण, पृ० ४५३-५७।)

मार्क्स ने जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन का इसी तरह मूल्यांकन किया। हेगल के आदर्शवाद से उन्होंने द्वंद्ववाद को बाहर निकाला। उन्होंने उसे इतिहास और विज्ञान की कसौटी पर परखा और उसे मार्क्सवाद का मेरुदण्ड बना दिया। इसी तरह उन्होंने फ्रांस के कल्पनावादी सोशलिस्टों का मूल्यांकन किया, इंगलैंड के अर्थशास्त्र का मूल्यांकन किया। पुराने भौतिकवाद, अर्थशास्त्र और समाजवाद के आधार पर ही मार्क्सवाद नहीं रचा गया, बल्कि मार्क्स ने इस पुरानी विरासत में एक गुणात्मक परिवर्तन भी किया।

मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी दर्शन है, वह समाज को बदलने की एक वैज्ञानिक पद्धति है। मार्क्सवाद का यह रूप उन तमाम तत्वों में मौजूद न था जिनका मूल्यांकन मार्क्स ने किया था। १९वीं सदी के पूँजीवादी समाज में मार्क्स ने ऐतिहासिक परिस्थितियों से ऊपर उठकर शाश्वत सत्य का निर्माण नहीं किया। उन्होंने सामाजिक विकास की मंजिलों का अध्ययन किया, विकास के नियमों का पता लगाया और इतिहास को बदलने का रास्ता दिखाया।

यह सब करने के लिए पुरानी संस्कृति का मूल्यांकन जरूरी था, उससे उन तमाम तत्वों को लेना जरूरी था जो नयी वैज्ञानिक विचारधारा के लिए आव-

श्यक थे। यह मूल्यांकन तभी सम्भव हुआ जब पुरानी संस्कृति का वर्ग रूप, उसकी ऐतिहासिक सीमाएँ भी पहचानी गयीं। जिस तरह दर्शन और अर्थशास्त्र के तथ्य पुरानी समाज-व्यवस्था में निर्मित होने पर भी समाज के काम आते हैं, उसी तरह साहित्य में पुरानी समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करने वाले तत्व भी नयी साहित्यिक चेतना को विकसित करने में सहायक होते हैं। लेकिन पुरानी समाज व्यवस्था का चित्रण करते हुए कुछ लोग प्रगतिशील तत्वों पर जोर देते हैं, कुछ लोग प्रतिक्रिया की हिमायत करते हैं। पूँजीवादी समाज में रचे हुए साहित्य के स्थायी अंश वे होंगे जो उस समय की सामाजिक प्रगति को प्रतिबिम्बित करते रहे हैं और उसे प्रेरणा देते रहे हैं।

प्रगति और प्रतिक्रिया के पहलुओं को समझने के लिए ही मूल्यांकन की जरूरत होती है; वर्ना तमाम पुराने साहित्य को, संस्कृति और विज्ञान को, आँख मूँद कर अपना लिया जाय।

इस मूल्यांकन में रूप और कला की बात भी आती है जिस पर यहाँ कुछ नहीं कहा गया। इस और पुराने साहित्य के मूल्यांकन पर आगे पर रखने की कोशिश करूँगा। यहाँ पर सवाल शाश्वत सत्य का है। उसके बारे में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि साहित्य में शाश्वत सत्य जैसी ( नेपोलियन ५ मई को मरा था के अपवाद छोड़कर ) किसी चीज की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मनुष्य सामाजिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक विकास की सीमाओं को लाँघ नहीं सकता। वह स्थायी साहित्य तभी दे सकता है जब वह अस्थायी लगने वाली परिस्थितियों का चित्रण करे। वर्ग-भेद के आधार पर चलने वाले समाज में उसे प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी वर्गों को पहचानना होगा। पार्टीजन साहित्यकार बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढ़ियों के लिए भी मूल्यवान हो।

मार्क्स के शब्दों में—'दर्शनकारों ने अलग-अलग तरह से दुनियाँ की व्याख्या की है, असली बात है उसको बदलना।' साहित्य दुनियाँ को बदलने के लिए बहुत बड़ा साधन है। जिस हद तक वह साधन बनता है उस हद तक ही साध्य रूप में भी उसकी सफलता है।

# हिन्दी साहित्य सम्मेलन किसकी सेवा करेगा हिन्दी साहित्य की, या हिंदू संप्रदायवाद की?

इस बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हिन्दी के विख्यात विद्वान महापण्डित राहुल सांकृत्यायन होने जा रहे हैं। इससे हिन्दी लेखकों और पाठकों में आशा की एक नयी लहर दौड़ गयी है कि अब शायद साहित्य सम्मेलन का उद्धार हो जायगा।

यह न भूलना चाहिये कि राष्ट्रभाषा परिषद के अध्यक्ष पद के लिए श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी भी चुने गये हैं। बम्बई की स्वागतकारिणी समिति में बड़े-बड़े महाजन जो हिन्दी साहित्य के लिए इतरजन हैं—पैर जमा रहे हैं। इससे सिद्ध है कि बिना तीव्र सङ्घर्ष के हिन्दी साहित्य सम्मेलन उस पूँजीवादी दलदल से नहीं निकल सकता।

किसी समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में पथप्रदर्शक का काम किया था। हिन्दी के उच्चकोटि के विद्वान् उसके सभापति पद को सुशोभित करते थे। सम्मेलन का अधिवेशन एक साहित्यिक पर्व होता था जिसमें भाग लेना लोग अपने गौरव की बात समझते थे। देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हिन्दी को उसका उचित स्थान देने के लिए तब भी प्रचार किया जाता था परंतु प्रत्येक सभापति साहित्य की गतिविधि पर भी प्रकाश डालता था और भावी कार्यक्रम की ओर इंगित करता था।

धीरे-धीरे सम्मेलन का यह रूप बदलता गया। कोशिश यह होने लगी कि किसी तरह हिन्दी का प्रचार हो, साहित्य अपनी रक्षा आप कर लेगा। साहित्य

के लिए अलग से एक परिषद् का अधिवेशन होने लगा। इस परिषद् में साहित्य की विवेचना कितनी होती है, यह किसी से छिपी नहीं है। वैसे तो सम्मेलन ने दर्शनशास्त्र से लेकर समाजशास्त्र तक किसी भी विषय को नहीं छोड़ा, लेकिन सम्मेलन का वास्तविक रूप हिन्दी प्रचारक का ही रह गया है।

अपनी भाषा का प्रचार करना हम सब के लिए गर्व की बात है। दूसरी भाषा के लोग हमारे साहित्य को पढ़ें और उसे सम्मान की दृष्टि से देखें यह बात भी मन को प्रसन्न करने वाली है। लेकिन आप इस प्रश्न पर विचार कीजिये कि दूसरी भाषा के बोलने वालों के हृदय में हमारे साहित्य के प्रति सम्मेलन के प्रचार द्वरा कितना सम्मान बढ़ा है।

हिन्दी साहित्य का प्रसार और विकास तथा हिन्दी भाषा का प्रचार दो अलग बातें नहीं हैं बल्कि एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन साहित्य रचना की ओर से जितना ही उदासीन होता गया है, उसका हिन्दी प्रचार भी उतना ही उथला और प्रभावहीन होता गया है।

यह स्वाभाविक था कि हिन्दी प्रचारक हिन्दीपन को भूल कर गाँठ की पूँजी के अभाव में संस्कृत का डंका बजायें और कहें कि हमारी भाषा संस्कृत के सबसे ज्यादा निकट है, इसीलिए वही संसार की श्रेष्ठ भाषा है। यदि संसार उसे अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मानता तो यह उसकी मूर्खता है, कम से कम हिन्दुस्तान के लोगों को तो मान ही लेना चाहिये।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंच पर श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, पं० अमरनाथ झा, गोस्वामी गणेशदत्त आदि-आदि का आना हिन्दी की प्रगति का सूचक नहीं है।

मुंशी जी अपनी साम्प्रदायिकता के कारण कांग्रेस से अलग हो गये थे। हिन्दू राष्ट्र के अधखुले समर्थक के रूप में अब वह पुनः काँग्रेस में प्रतिष्ठित हो गये हैं।

किसी समय उर्दू कवि अकबर इलाहाबादी के पास मित्र और समर्थक स्वर्गीय प० पद्मसिंह शर्मा सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर विराजे थे। उसी पद पर

गोस्वामी गणेशदत्त जैसे संकीर्ण मनोवृत्ति के लोग भी आये। अकबर का जादू उनके सिर पर चढ़ कर बोला, लेकिन उसके लिए उन्हें क्षमा याचना करनी पड़ी—'माफ करना जी, मुँह से उर्दू का शेर निकल गया।'

साहित्य सम्मेलन के पीछे जो गुट्ट काम करता आया है, वह धीरे-धीरे सम्मेलन के प्राण टण्डन जी को और उनके शरीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हिन्दू साम्प्रदायिकता की ओर घसीट ले गया है।

टण्डन जी ने अनेक भाषणों में अपनी सफाई देते हुए बता दिया है कि अब वह गाँधी जी के साथ नहीं हैं। वे यह नहीं बताते कि अब वह हैं किसके साथ। फिर भी बिना बताये हुए ही लोग उनके नये मित्रों को परख सकते हैं।

यह कहने की बात नहीं, सभी लोग जानते हैं कि हिन्दी भाषी संसार में सम्मेलन की तरफ से बहुत बड़ा असन्तोष है। पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े लेखक उससे सहयोग नहीं करते। मैंने व्यक्तिगत रूप से कई लोगों से इस विषय में बातचीत की और पूछा कि आप हिन्दी के पुराने साहित्यकार होकर सम्मेलन को लेखकों की एक लोकप्रिय संस्था क्यों नहीं बनाते? उन्होंने निराश होकर उत्तर दिया कि दलदल में कौन फँसे?

हिन्दी लेखकों की नयी पीढ़ी इस ओर से और भी उदासीन है। सम्मेलन से किसी भी तरह की प्रेरणा उसे नहीं मिलती। बंगाल में इतना बड़ा अकाल पड़ा, हिन्दी साहित्य में उस पर इतनी रचनायें प्रकाशित हुईं लेकिन सम्मेलन इस ओर से मौन रहा। नेता जेल से छूटे, देश में बड़े-बड़े राजनीतिक परिवर्तन हुए लेकिन सम्मेलन की गतिविधि में कोई ऐसा अन्तर नहीं आया जिससे हिन्दी लेखक राष्ट्रनिर्माण के कार्य की ओर बढ़ते।

यह बात नहीं है कि सम्मेलन शुद्ध साहित्यिक संस्था हो जिसका राजनीतिक और सामाजिक हालत से कोई सम्बन्ध न हो।

दिन पर दिन सम्मेलन एक स्पष्ट राजनीतिक विचारधारा की ओर खिंचता गया। यह विचारधारा हिन्दू राष्ट्रवाद की है। सम्मेलन मंच से अनेक बार हिन्दी और हिन्दू का सम्बन्ध जोड़ा गया है। हिन्दी आम जनता की भाषा है—यह सिर्फ कहने की बात रह गयी है। हिंन्दी के हिन्दीपन को मिटा कर उसे

संस्कृत की ओर ले जाने के पक्षपाती हिंदी को कदापि जन-साधारण की भाषा नहीं मानते। उनके लिए मुसलमान का हिन्दीभाषी या हिन्दी लेखक होना एक पहेली है। मुँह से वे भले ही कहें कि मुसलमानों की भाषा भी हिन्दी है, लेकिन सिद्धान्त उनका यही है कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा है और हिन्दुओं में भी पण्डित अमरनाथ झा और श्री कन्हैयालाल मुंशी जैसे लोगों की भाषा है।

सम्मेलन के मंत्री श्री मौलिचन्द शर्मा टेहरी राज्य के भूतपूर्व दीवान हैं। आपके ही शासन काल में श्री देव 'सुमन' को वीरगति प्राप्त हुई थी। केवल अपनी साम्प्रदायिकता के बल पर गोस्वामी गणेशदत्त की उँगली पकड़ कर आप मंत्रि पद पर आसीन हो गये हैं। आप खुल्लम-खुल्ला राष्ट्र विरोधी मोर्चों के नेता हैं। आपके मंत्रित्व काल में आपका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य से इतना घनिष्ठ नहीं हुआ जितना अपने भूतपूर्व अन्नदाता राजाओं से।

इस तरह के लोगों की प्रतिक्रियावादी नीति का ही परिणाम है कि सम्मेलन हिन्दी-साहित्य की मूल गतिविधि से दूर जा पड़ा है।

इन्हीं लोगों के प्रयत्नों का फल है कि हिन्दी का जितना ही अधिक प्रचार किया जाता है, दूसरी भाषाओं के आगे उसे उतना ही कम सम्मान प्राप्त होता है। जब बङ्गाल, महाराष्ट्र या आंध्र के विद्वान् सम्मेलन का बड़ा नाम सुन कर उसके प्रतिनिधि रूप मौलिचन्द्र शर्मा के दर्शन करते हैं, तब सोचिए हमारी भाषा और साहित्य के प्रति उनके हृदय में कितना सम्मान उत्पन्न होता होगा।

युद्धकाल में और विशेष रूप से उसके बाद, हिन्दी प्रकाशन पर पूँजीवादी प्रभुत्व बढ़ता गया है। जो बातें अभी तक बड़े-बड़े पूँजीवादी देशों में होती थीं, वे अब हमारे देश में भी होने लगी हैं। बिड़ला, डालमिया और गोयनका के सामने अब कोई भारतेन्दु या प्रतापनारायण मिश्र की तरह चवन्नी का अखबार निकाल कर जीवित नहीं रह सकता। हिन्दी के अच्छे-अच्छे पत्र बन्द होते जा रहे हैं। कुछ लेखक मिलकर नये पत्र निकालते हैं तो एक-दो अङ्क चल कर वे फिर भी ठप हो जाते हैं।

कारण यह है कि प्रकाशन की कठिनाइयों का सामना करना साधारण

प्रकाशकों की वश की बात नहीं रही। बड़े-बड़े पूँजीवादी प्रकाशकों के लिए चोर बाज़ार में कागज़ की कमी नहीं है। वे हर साधन से कागज़ लेकर हज़ारों पुस्तकें प्रकाशित कर सकते हैं और कर रहे हैं। हिन्दी लेखकों से थोड़ी कीमत पर पुस्तकें लेकर, हिसाब में हर तरह की बेईमानी करके वे उन्हें बुरी तरह ठगते हैं।

जैसी गैर क़ानूनी धाँधली प्रकाशन के मामलों में चलती है, वैसी समाज में और कहीं नहीं चलती।

इसलिए हिन्दी के अधिकांश लेखक प्रकाशन की वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं।

लेकिन इसके साथ ही कुछ स्वार्थी लेखकों का एक ऐसा गुट भी बन गया है जो इस व्यवस्था की चाटुकारिता में ही साहित्य के नवों रसों की सिद्धि देखता है। जहाँ भी उसे पूँजीवादी व्यवस्था और मुनाफ़ाखोरी का जरा-सा भी विरोध दिखाई देता है, वहीं वह सपने में घिग्घी बँधे हुए आदमी की तरह 'रूस-रूस' चिल्ला उठता।

सम्मेलन के मंच से कुछ लोगों ने यह अपील करके कि हिन्दी लेखकों की सूची से प्रगतिशील लेखकों का नाम काट दिया जाय, पूँजीवाद की चाटुकारिता का अच्छा परिचय दिया है। जिनमें कहने की हिम्मत नहीं है, वे इस ओर से आँख मूँद लेते हैं और समझ बैठते हैं कि इस तरह प्रगतिशील साहित्य का अस्तित्व ही मिट जायेगा।

पिछले दस वर्षों में हिन्दी साहित्य की प्रमुख और बलवती धारा प्रगतिशील साहित्य की रही है। पुरानी पीढ़ी के कवि और लेखक इस विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। नयी पीढ़ी का कोई भी लेखक इससे तटस्थ नहीं है। जो इसके विरोधी हैं, उनकी क्रियायें देखने लायक हैं।

एक मतिराम के भविष्य का उद्धार करने में लगे हैं और दावा करते हैं कि नये हिन्दी साहित्य में जब तक रीतिकालीन परम्परा पुनर्जीवित न की जायेगी तब तक साहित्य की श्राद्ध अधूरी रहेगी। इस परम्परा को रामचन्द्र शुक्ल से लेकर सुमित्रानन्दन पंत तक हिन्दी के प्रमुख कवियों और आलोचकों ने काफ़ी

गहरे दफ़ना दिया है। क़ब्र से निकल कर एक बार मुर्दा भले ही बोलने लगे, नायिका भेद की परिपाटी फिर जीवित नहीं हो सकती।

दूसरे महाशय कहते हैं कि साहित्य काम-वासना से उत्पन्न होता है। मनुष्य की इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, तब वे साहित्य के नये गुल खिलाती हैं। इसलिए प्रगति और प्रतिक्रिया की बात करना बिल्कुल बेकार है। हिन्दुस्तान आजाद हो चाहे गुलाम, हमें उससे क्या लेना-देना! शक्कर दस रुपये मन बिके चाहे साठ रुपये मन, हम तो अचेतन मन की मिश्री ही खायेंगे। यह मिश्री बहुत-सी कविताओं और कहानियों में घुल-घुलकर हिन्दी साहित्य में नये रस की सृष्टि कर रही है। कुछ लोगों को प्रगतिशील साहित्य के खिलाफ़ यह एक नया मोर्चा देखकर बड़ी खुशी होती है। वे समझते हैं कि कम से कम लेखक अपार्थिव लोग ज़मींदार प्रथा और पूँजीवाद को खतम करने की निहायत भौतिकवादी बातें तो न करें।

कुछ और लोग हैं जो साहित्य में हिन्दू राष्ट्र को स्थापित करके हिन्दी को अमर कर देना चाहते हैं। इनके पूर्वज जर्मनी में आर्य-राष्ट्र स्थापित करके एक ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि कर गये हैं जिसकी एक पंक्ति भी अब लोगों को याद नहीं है।

हमारे देश को जनतन्त्र में विश्वास, स्वाधीनता से प्रेम, अन्याय से घृणा, जनता के संगठन और उसकी रचना शक्ति में आस्था की जरूरत है। आज का लेखक निराशावादी होकर महान् साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। अवसरवाद के सहारे लेखक में वह आवेश पैदा हो ही नहीं सकता जो गम्भीर साहित्य की रचना के लिए आवश्यक है। नये साहित्य की रचना के लिए सैद्धान्तिक दृढ़ता चाहिये। प्रतिक्रियावादी देशों की नकल करके साहित्य और संस्कृति का भला नहीं किया जा सकता।

सम्मेलन के कर्णधार जब तक नये पूँजीवादी आक्रमण का विरोध नहीं करते, साहित्य की पतनोन्मुख धाराओं की ओर संकेत करके नये रचनात्मक साहित्य का निर्देश नहीं करते, तब तक सम्मेलन हिन्दी लेखकों की लोकप्रिय संस्था नहीं बन सकता।

आज की परिस्थिति में हिन्दी-उर्दू का प्रश्न हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न बनाकर बहुत साम्प्रदायिक ढङ्ग से जनता के सामने रक्खा जाता है। जो हिन्दू राष्ट्रवादी यह कहते हैं कि पाकिस्तान बनने पर मुसलमानों के लिए यहाँ पर कोई स्थान न होना चाहिये, उन्हीं का यह भी दावा है कि पाकिस्तान की भाषा उर्दू होनी चाहिये, हिन्दुस्तान में अब उसके लिए कोई स्थान नहीं है। इससे बड़ी प्रतिक्रियावादी बात दूसरी नहीं हो सकती।

यह नीति उर्दू के लिए घातक हो चाहे न हो, हिन्दी के लिए अवश्य घातक है। ऐसी संकीर्णता से किसी भी भाषा का विकास नहीं हो सकता।

हिन्दी और उर्दू का मौलिक धरातल एक है। दोनों के ८० फी सदी शब्द साधारण बोलचाल के हैं। जब हम हिन्दी और उर्दू को एक-दूसरे की विरोधी भाषा मान लेते हैं तब हम उनकी इस ८० फी सदी समानता पर ही आघात करते हैं। इस विरोध को बढ़ाने का मतलब है, हिन्दी और उर्दू को क्लिष्ट बनाना, ऊपर से उन्हें जनता की भाषा कहना लेकिन वास्तव में उन्हें जनता से कोसों दूर ले जाना।

भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने इस तरह की भाषा का कभी समर्थन नहीं किया। हिन्दी को साम्प्रदायिकता की ओर खींच कर ये लोग हिन्दी की परम्परा के प्रति आज बहुत बड़ा अन्याय कर रहे हैं।

हिन्दी के वास्तविक शत्रु उर्दू वाले नहीं हिन्दी के ये कथित हितैषी हैं।

इस बात की जरूरत है कि सम्मेलन के मंच से हिन्दी-उर्दू की खाई को और गहरा न करके उसकी ८० फीसदी समानता पर जोर दिया जाय। दुनियाँ की कोई दो भाषाएँ एक-दूसरे से इतना नजदीक नहीं हैं जितनी कि हिन्दी और उर्दू। इन दोनों का विकास बंगाल या बलूचिस्तान में नहीं हो सकता; इन के बोलने वाले एक ही प्रदेश में रहते हैं। परिस्थितियों से मजबूर होकर दोनों भाषाओं को एक होना पड़ेगा। ८० फी सादी समानता बढ़ेगी और वह २० फी सदी भेदभाव को खतम कर देगी।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान पर जो बँटवार लादा है, उसका घातक परिणाम हम भाषा के क्षेत्र में देख रहे हैं। सम्प्रदायवादियों ने उसी से शह पाकर

हिन्दी के साथ हिन्दू राष्ट्र का नारा जोड़ दिया है। इस गठबंधन का भविष्य उतना ही उज्वल है जितनी अंग्रेजी साम्राज्यवाद का।

इसलिए सम्मेलनों में भाग लेने वाले हिन्दी प्रेमियों के लिए आवश्यक है कि वे अपने हिन्दी-प्रेम को स्वाधीनता और जनतन्त्र के मार्ग पर ले चलें। अन्य भाषाओं से अपने आदान प्रदान की नीति को न छोड़ें।

पन्द्रह अगस्त सन् ४७ के बाद सम्मेलन के इस प्रथम अधिवेशन में सम्मेलन का मञ्च साम्प्रदायिकता का अखाड़ा न बनना चाहिये बल्कि परस्पर मैत्री और सहानुभूति का सन्देश वहाँ से जनता तक पहुँचना चाहिये।

साम्प्रदायिक दंगों की निन्दा करके, साहित्य पर पूँजीवादी आक्रमण का विरोध करके सम्मेलन नयी साहित्य रचना का प्रदर्शन कर सकता है।

हिन्दी और उर्दू के प्रश्न पर उसे स्पष्ट करना होगा कि हिन्दी के किस रूप की वह राष्ट्रभाषा के लिए माँग करता है।

यदि पं० अमरनाथ झा की बात फिर दुहराई जाती है तो ऐसी हिन्दी का राष्ट्रभाषा बनना तो दूर वह, यू० पी० के हिन्दी बोलने वालों की भाषा भी न बन सकेगी।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा यू० पी० के जन-साधारण की प्रचलित भाषा हो सकती है जो हिन्दी और उर्दू दोनों का ही आधार है। इस आधार को भूल कर जो बालू की भीति पर राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश करेंगे, उन्हें बहुत जल्द निराश होना पड़ेगा।

दिसम्बर १९४७

# सामाजिक प्रगति और शाश्वत सत्य की खोज

[ जी० अलेग्ज़ान्द्रोव की पुस्तक 'पच्छिमी यूरोप के दर्शन का इतिहास' पर ए० ए० ज्दानोव के आलोचनात्मक भाषण का परिचय ]

ए० ए० ज्दानोव का नाम साहित्य, दर्शन और राजनीति, तीनों ही क्षेत्रों में विश्व-प्रसिद्धि पा चुका है। यूरोप की नौ कम्युनिस्ट पार्टियों की पहली बैठक में उन्होंने ही 'अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति' पर अपना प्रसिद्ध भाषण दिया था। अभी हाल में कामिनफार्म की जिस बैठक में यूगोस्लाविया के कम्युनिस्ट नेताओं पर प्रस्ताव पास किया गया है, उसमें भी सोवियत सङ्घ की ओर से मालेंकोव और सुस्लोव के साथ ज्दानोव उपस्थित थे। 'स्वेज्दा' ( नक्षत्र ) और 'लेनिनग्राद' नाम की सोवियत पत्रिकाओं के खिलाफ सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से भी ज्दानोव ने ही रिपोर्ट पेश की थी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्यिक समस्याओं की जो विवेचना इस रिपोर्ट में हुई है, सारी दुनियाँ में वह बड़े चाव से पढ़ी गई है।

अलेग्ज़ान्द्रोव की पुस्तक पर ज्दानोव का आलोचनात्मक भाषण सभी मार्क्सवादियों के लिए—खास तौर से साहित्य और दर्शन के विद्यार्थियों के लिए—बहुत महत्वपूर्ण है।

अलेग्जान्द्रोव को दर्शनशास्त्र के इतिहास पर एक पाठ्य-पुस्तक तैयार करने का काम सौंपा गया था। उनकी पुस्तक का नाम 'पच्छिमी यूरोप के दर्शनशास्त्र का इतिहास' ही यह जाहिर करता है कि उन्होंने भारत, चीन आदि पूर्वी देशों के दर्शन को छोड़ दिया है। इसके अलावा रूस के दार्शनिकों की रचनाओं को भी उन्होंने छोड़ दिया है। यूरोप की आधुनिक विचारधाराओं की भी उन्होंने विवेचना नहीं की और पुस्तक १८४८ तक आकर रुक जाती है। इन कारणों से उनकी यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के इतिहास पर पाठ्य पुस्तक नहीं बन पाई, वैसे उसमें और खामियाँ चाहे न भी होतीं।

इतने देशों और युगों के दार्शनिक चिन्तन पर पुस्तक लिखना एक आदमी के लिए बहुत ही कठिन था। ज्दानोव ने इस लेखन-पद्धति की आलोचना करते हुए बताया है कि अलेग्जान्द्रोव को अपने काम में देश के दूसरे दार्शनिकों से सहायता लेनी चाहिये थी जो मास्को के अलावा दूसरे छोटे-बड़े शहरों में काम करते थे। दार्शनिक ही नहीं, इतिहासकारों और वैज्ञानिकों से भी विचार-विनिमय करके यह किताब लिखनी चाहिये थी जिससे दर्शनशास्त्र के विद्वानों को ही लाभ न होता वरन् ज्ञान-विज्ञान की इन शाखाओं का भी परस्पर परिचय बढ़ता। इससे जाहिर है कि ज्दानोव दर्शनशास्त्र के इतिहास पर पुस्तक लिखने को कितना महत्व देते हैं।

यह महत्व वैज्ञानिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार का है। इस तरह की पुस्तक लिखे जाने से 'सोवियत बुद्धिजीवियों, कार्यकर्त्ताओं और नौजवानों के हाथ में एक नया शक्तिशाली सैद्धान्तिक अस्त्र ही न आ जाता बल्कि मार्क्स-वादी—लेनिनवादी दर्शन के विकास में एक बहुत बड़ा कदम उठाया जाता।'

इस महत्व को दृष्टि में रखकर सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने इस पुस्तक पर दार्शनिक मोर्चे की खामियों और उसके कर्तव्यों पर विचार करने के लिए जून १९४७ में एक सम्मेलन किया। उसमें ८३ भाषण इस विषय पर हुए। ज्दानोव ने अपने भाषण के आरम्भ में ही कह दिया है कि वह तमाम बहस का सारांश निकाल कर अपनी राय देने नहीं जा रहे; वह बहस में हिस्सा लेने वाले की हैसियत से बोल रहे हैं।

सबसे पहले उन्होंने यह बताया है कि दर्शनशास्त्र के इतिहास पर लिखी जाने वाली पुस्तक को कौन कौन-सी शर्तें पूरी करनी चाहिये। पाठक देखेंगे कि ये शर्तें अन्य विषयों का इतिहास लिखते हुए भी अनिवार्य रूप से ध्यान में रखने योग्य हैं।

'पहले तो यह जरूरी है कि विषय की—विज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र के इतिहास की, स्पष्ट व्याख्या की जाय।

'दूसरे, पुस्तक वैज्ञानिक हो, यानी वह द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिक-वाद की अब तक की अर्जित सम्पत्ति के आधार पर रची गई हो।'

'तीसरे, दर्शनशास्त्र के इतिहास की व्याख्या रचनात्मक हो न कि 'स्कोलैस्टिक' उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वर्त्तमान काल में पूरा किये जाने वाले कामों से होना चाहिये। उससे इन कामों पर प्रकाश पड़ना चाहिये और दर्शनशास्त्र के अगले विकास की रूपरेखा सामने आनी चाहिये।

'चौथे, जो तथ्य पेश किये जायँ वे पूरी तरह जाँचे हुए हों।

'पाँचवें, शैली स्पष्ट, निश्चित अर्थ वाली और पाठक को विश्वास दिलाने वाली [ clear, precise and convincing ] होनी चाहिये।'

देखने में ये पाँचों शर्तें बहुत सीधी हैं और उनका जिक्र करना भी बेकार मालूम होता है, लेकिन साहित्य और दर्शनशास्त्र के इतिहास पर पुस्तकें उठाइये तो इन्हीं की कमी मिलेगी। हिन्दुस्तान में खास तौर से दर्शनशास्त्र को शब्दों के बड़े-बड़े गहने पहना कर बिल्कुल जड़ प्रतिमा की तरह किसी मन्दिर के कोने में ( हृदय-मन्दिर में नहीं ) बिठा दिया जाता है जहाँ किसी संसार से उदास-तटस्थ या पूँजीपतियों की दक्षिणा पाने वाले पुजारी की ही पैठ हो सके।

तीसरी शर्त पर हमारे यहाँ के शाश्वतवादी नाक-भौं सिकोड़ेंगे। भला दर्शनशास्त्र का वर्तमान काल के पूरा किये जाने वाले कामों से क्या सम्बन्ध? जब हमारा दर्शन ही देश काल के परे है, तब उसका इतिहास लिखते हुए वर्तमान की मुसीबतों का बोझ ढोना कहाँ की दार्शनिकता है।

शाश्वतवादी कहेंगे —हम मार्क्स और एंगेल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को दर्शन मानते ही नहीं; उसका इतिहास क्या लिखना ?

इसका भौतिकवादियों के पास स्पष्ट उत्तर है—'हम तो अपने दर्शन को देश-काल यहाँ तक कि वर्ग तक से बँधा हुआ मानते हैं। आपके देश-काल से परे होने का मतलब भी हम खूब समझते हैं। और हम दिखाते हैं कि किस तरह आपका दर्शन देश काल ही नहीं, वर्गों से और वह भी सामाजिक प्रगति के विरोधी वर्गों से बुरी तरह बँधा हुआ है।

इन्हीं पाँच शर्तों पर ज्दानोव ने अलेग्ज़ान्द्रोव की पुस्तक को परखा है और आगे चलकर सोवियत सङ्घ में दार्शनिक और सैद्धांतिक मोर्चे के काम बताये हैं।

सबसे पहले उन्होंने दर्शनशास्त्र की व्याख्या को लिया है। अलेग्ज़ान्द्रोव की व्याख्या यह है—'दर्शनशास्त्र का इतिहास मनुष्य द्वारा अपने चारों ओर के संसार के प्राप्त ज्ञान के प्रगतिशील और उच्चतर विकास का इतिहास है।'

इस पर ज्दानोव ने यह आलोचना की है—'इसका मतलब यह होगा कि दर्शनशास्त्र के इतिहास का विषय वही है जो आम तौर से विज्ञान के इतिहास का है। ऐसी हालत में दर्शनशास्त्र विज्ञानों में परम विज्ञान सिद्ध होगा। मार्क्सवाद ने इस धारणा को बहुत पहले ठुकरा दिया था।'

इसी तरह ज्दानोव के अनुसार यह कहना भी गलत है कि दर्शनशास्त्र का इतिहास अनेक समसामयिक विचारों के उत्थान और विकास का इतिहास है। कारण यह कि इस व्याख्या में 'समसामयिक' को 'वैज्ञानिक' का पर्यायवाची मान लिया गया है।

ज्दानोव ने दर्शनशास्त्र के इतिहास पर लेनिन के ये वाक्य उद्धृत किये हैं—"हेगेल के दर्शन के इस क्रांतिकारी पहलू को मार्क्स ने स्वीकार किया और उसे विकसित किया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को 'अब ऐसे किसी दर्शन की जरूरत नहीं है जो दूसरे विज्ञानों के ऊपर हो।' पुराने दर्शन में से अब रह गया है 'विचार-विज्ञान और उसके नियम—तर्कशास्त्र [ फार्मल लाजिक ] और द्वंद्ववाद।' और द्वंद्ववाद में, जैसा मार्क्स ने उसे समझा था, और जो हेगल के अनुकूल है, वह भी शामिल है जिसे आजकल ज्ञान का सिद्धांत या एपिस्टेमोलॉजी कहा जाता है। इस सिद्धांत के लिए भी जरूरी है कि वह अपनी विषय-वस्तु की ऐतिहासिक विवेचना करे, ज्ञान के उद्गम और विकास का, अज्ञान से ज्ञान की ओर संक्रमण का, अध्ययन करे और उससे व्यापक नतीजे निकाले।" ( लेनिन, संक्षिप्त ग्रन्थावली, खंड ११, पृ० १७ )

इस आधार पर ज्दानोव ने दर्शनशास्त्र के इतिहास की विषय-वस्तु की यों व्याख्या की है—'इसलिये दर्शनशास्त्र का वैज्ञानिक इतिहास विश्व के प्रति वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिकोण की उत्पत्ति, उत्थान और विकास का इतिहास है। भौतिकवादी का अभ्युदय और विकास आदर्शवादी धाराओं से टक्कर लेकर हुआ है, इसलिये दर्शनशास्त्र का इतिहास आदर्शवाद से भौतिकवाद के सङ्घर्ष

का इतिहास भी है।'

निःसन्देह, यह व्याख्या बहुत लोगों को अग्राह्य होगी और वे आदर्शवादी ग्रन्थों के प्रति इस व्यवहार से प्रसन्न न होंगे। मार्क्सवाद शोषित वर्ग का, नये समाज के निर्माताओं का दर्शन है, इसलिये यह व्यवहार अवश्यंभावी है। मार्क्स और लेकिन के अनुसार पुराने दर्शन में से काम की चीज तर्कशास्त्र और द्वंद्ववाद बच रहती है। आदर्शवादी इतने से चाहें तो सन्तोष कर सकते हैं।

ज्दानोव ने इस धारणा का खंडन किया है कि मार्क्सवाद पहले की प्रगतिशील विचार-धाराओं का फ्रांस के भौतिकवादियों, इंगलैंड के अर्थशास्त्रियों और हेगेल के आदर्शवाद का सहज उत्तराधिकारी बनकर आ गया है। मार्क्सवाद दर्शनशास्त्र में एक क्रांति पहले के दार्शनिक चिन्तन के बिना न हो सकती थी, लेकिन उस क्रांति से उस पहले के दार्शनिक चिन्तन का अन्त भी हो गया। अलेग्जान्द्रोव ने यह नहीं समझा कि 'मार्क्स और एंगेल्स ने एक नये दर्शन की रचना की थी जो गुणात्मक रूप से पहले की तमाम दार्शनिक धाराओं से, वे कितनी भी प्रगतिशील रही हों, भिन्न था।'

मार्क्स के पहले दर्शनशास्त्र कुछ ऐसे थोड़े से तत्वज्ञानियों और गुरु-चेलों की सम्पत्ति था। मार्क्सवाद उस तरह का दर्शन न होकर उस सर्वहारा वर्ग के हाथ में एक वैज्ञानिक अस्त्र है जो पूँजीवाद से मुक्त होने के लिए सङ्घर्ष करता है। पहले के दर्शनशास्त्र अन्य विद्वानों से दबे रहते थे, लेकिन मार्क्सवाद 'वैज्ञानिक खोज का अस्त्र है, एक पद्धति है, जो तमाम प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में प्रवेश करता है; उनके विकास क्रम में उनकी सफलताओं से, समृद्धि होता है। इस अर्थ में मार्क्सीय दर्शन पहले के तमाम दर्शन का पूरा-पूरा और निश्चित अभाव ( निगेशन ) है। लेकिन जैसा कि एंगिल्स ने जोर देकर कहा था, अभाव का मतलब 'ना' कह देना नहीं है। अभाव में पूर्व क्रम का चालू रहना भी शामिल है। उसमें पूर्वक्रम को आत्मसात् करना भी होता है जबकि मानव विचारों के इतिहास में जो कुछ प्रगतिशील और अग्रसर है, उसे समीक्षा की निगाह से फिर सँवार कर एक नये और ऊँचे सिन्थिसिस में उसका एकीकरण होता है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि द्वंद्ववाद का वर्णन करने

के लिए उस पहले की तैयारी का वर्णन किया जाय जिससे वह सम्भव हुआ है। अलेग्जान्द्रोव का यह दोष रहा है कि दर्शनशास्त्र के विकास का ठोस ऐतिहासिक क्रम नहीं समझ पाये।'

ज्दानोव ने बताया है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में दार्शनिक प्रश्नों पर लोगों के मत ही नहीं बदला करते, बल्कि इन प्रश्नों का दायरा, दर्शनशास्त्र की विषय वस्तु ही बदल जाती है। मानवीय बोध का जो द्वन्द्वात्मक स्वभाव है, यह बात उसके अनुकुल भी है।

ज्दानोव का यह तर्क दर्शन के शाश्वत प्रश्नों और उनके शाश्वत उत्तरों के प्रतिकूल पड़ता है। ज्दानोव ने इस धारणा का खंडन किया है कि प्राचीन ग्रीस में दर्शनशास्त्र ज्ञान का एक स्वतन्त्र विषय बन गया था। यूनानियों के दार्शनिक विचार उनके प्राकृतिक विज्ञान और राजनीति सम्बन्धी विचारों से इतना मिले-जुले हुए थे कि उन पर आधुनिक विज्ञानों का विभाजन लादना भारी भूल होगी।

दर्शनशास्त्र का इतिहास यह दिखाता है कि जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति और समाज सम्बन्धी ज्ञान बढ़ा, वैसे-वैसे एक के बाद एक पदार्थ विज्ञान उससे अलग होते गये। पदार्थ विज्ञान के विकास से दर्शन शास्त्र की परिधि संकुचित होती गई और यह काम अभी भी बन्द नहीं हुआ। ज्दानोव के अनुसार यह अलगाव पदार्थ-विज्ञान ही नहीं, दर्शन-शास्त्र के लिए भी एक प्रगतिशील क्रिया थी।

शाश्वत सत्य की खोज से सत्य तो नहीं मिला, उल्टा विज्ञान की प्रगति में बाधा जरूरी पड़ी। ज्दानोव ने इस बाधा का यों उल्लेख किया है—

'पूर्व युग के दर्शनकारों ने, जो शाश्वत सत्य को उसके चरम रूप में जानने का दावा करते थे, प्राकृतिक विज्ञान को विकसित करने में अपने को असमर्थ ही दिखाया। विज्ञान से ऊपर चढ़ कर बोलने का हौसला रखने के कारण ये विज्ञान पर अपनी कोई सिद्धान्त-रचना लाद देते थे। वे सजीव मानवीय बोध पर ऐसे परिणाम लादते थे जो वास्तविक जीवन से न निकलते थे बल्कि जो उनकी सिद्धांत-रचना की जरूरतों को पूरा करते थे।'

इस तरह का दर्शन संसार को समझने और अमली कदम उठाने में मददगार न हो सकता था। हेगेल ने भी अपनी दार्शनिक व्यवस्था में इसी तरह तमाम विज्ञान को फिट करने की कोशिश की थी।

मार्क्स और एंगेल्स ने दार्शनिक चिंतन का ध्येय ही बदल दिया। मानव समाज अपनी समूची प्रगति के बाद जिस बात को जान सकता है, उसे एक दार्शनिक व्यक्ति नहीं जान सकता। यह बात दिल में बैठ जाने पर पुराने दर्शनशास्त्र का अन्त हो जाता है। ज्दानोव ने एंगेल्स का यह मत उद्धृत किया है—'तब हम उस 'शाश्वत सत्य' को एक तरफ रख देते हैं जो इस रास्ते पर चल कर, या किसी एक व्यक्ति को, नहीं मिल सकता। इसके बदले हम सापेक्ष और प्राप्त सत्य की खोज में चल पड़ते हैं और निश्चित विज्ञान (पॉजिटिव सायंस) के रास्ते पर चलते हुए द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति से उस विज्ञान के परिणामों का समीकरण ( Summation ) करते हैं।' ( फ्रीडरिख एंगेल्स लुडविग फायरबाख, पृ० २५ )।

इस तरह उस दार्शनिक धारा का अंत हुआ जो संसार की शाश्वत व्याख्या करने का दावा करती है।

शाश्वतवाद के प्रति मार्क्सवाद की यह धारणा साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बड़े महत्व की है। यदि दर्शनकार शाश्वत सत्य के लिए ही चिंतित हैं तो साहित्यकार तो स्वयं, शिवं, सुन्दरं —तीनों के लिए चिंतित है। इसलिए उसकी चिन्ता दर्शनकार से भी बढ़ जाती है। अपने को मार्क्सवादी समझने वाले कई लेखक इस शाश्वत की लपेट में ऐसे आ जाते हैं कि मार्क्सवाद को भरा-पूरा बनाने के लिए फ्रायड के मनोविज्ञान से उसका समन्वय करने दौड़ पड़ते हैं। वे राजनीतिक और सामाजिक महत्व के विषयों पर लिखे हुए साहित्य को हेच ठहराते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में सामाजिक और राजनीतिक महत्व देश-काल से बँधा हुआ है जबकि साहित्य सौंदर्य की खोज में इनसे परे रहना चाहिये। इस तरह के शाश्वतवादी साहित्यकारों का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शाश्वतवाद की ही एक शाखा उन मानववादियों की है जो साहित्य,

दर्शन और संस्कृति को वर्गों से परे मानव-मात्र की रचना और संपत्ति मानते हैं। उनका यह कथित मानववाद दरअसल वर्ग-स्वार्थों को छिपाता है। अलेग्जान्द्रोव में भी यही दोष है कि वह दर्शन के वर्ग और पार्टी-रूप से इनकार करते हैं। हालाँकि यह बात मार्क्सवाद का अभिन्न अङ्ग है ( 'deny-ing the principle of the party-character of philosophy' in herent in Marxism Leninism.' ) ज्दानोव ने गैरभौतिकवादी धाराओं से लेनिन के संघर्ष की ओर ध्यान खींचते हुए बताया है कि परस्पर विरोधी दार्शनिक धाराओं को मिलाना लेनिन हमेशा प्रतिक्रियावादियों की चाल समझते थे।

इस तरह समन्वयवाद का असली रूप प्रतिक्रियावाद ही ठहरता है।

अलेग्जान्द्रोव ने एक लड़ाकू सर्वहारा दृष्टिकोण न अपना कर प्रोफेसरों की तरह यह भी अच्छा वह भी अच्छा, कहते हुए पूँजीवादी विचारकों का धूप नैवेद्य से सत्कार किया है। इसके विपरीत ज्दानोव ने लेनिन का यह मत उद्धृत किया है कि 'भौतिकवाद में, कहना चाहिए, पार्टी-बन्दी शामिल है, यानी यह लाजमी है कि किसी भी घटना का मूल्यांकन करते हुए साफ-साफ और सीधे-सीधे एक निश्चित सामाजिक गुट का दृष्टिकोण अपनाया जाय।'

( लेनिन ग्रन्थावली, खंड १, पृ० २७६ रूसी संस्करण )

भौतिकवाद के विरोधियों का पर्दाफाश न करके अलेग्जान्द्रोव उनके साथ नर्मी से पेश आये हैं। खास तौर से उन्हे दार्शनिक धाराओं पर कस कर चोट करनी चाहिये थी जो प्रतिक्रियावादियों का अस्त्र बने हुए हैं।

कौन से विचार प्रतिक्रियावादी हैं, कौन से प्रगतिशील हैं, इस बारे में ज्दानोव की वह उक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है—अलेग्जान्द्रोव बार-बार मार्क्सवाद की इस मान्यता को भूल जाते हैं कि अलग-अलग ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक ही विचार प्रतिक्रियावाद या प्रगतिशील हो सकता है। लेखक ने इस बात का खुलासा न करके इस आदर्शवादी धारणा के लिए गुञ्जाइश रहने दी है कि विचार इतिहास से स्वतन्त्र है।'

जो 'प्रगतिशील' लेखक अब भी इस भ्रम में हों कि जब तक तुलसी,

भारतेन्दु, प्रेमचन्द्र और निराला में एक से ही विचार न होंगे, तब तक हम उन्हें प्रगतिशील न कह सकेंगे, वे ज्दानोव के वाक्यों को दो-तीन बार ध्यान से पढ़ लें। शाश्वतवादियों के चकमे में आकर वे स्वयं 'प्रगतिवाद' को एक शाश्वतवाद के रूप में पेश करने लग जाते हैं। यदि प्रतिक्रियावाद नाम का कोई वाद विशेष नहीं है तो प्रगतिवाद नाम का भी कोई शाश्वतवाद असम्भव है। प्रगतिशील साहित्य निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज ही हो सकता है और इस तरह प्रगतिशीलता के मानदंड भी बदलना अवश्यंभावी है।

ज्दानोव ने कहा है कि विचारों को इतिहास से स्वतंत्र मानना आदर्शवादी दर्शन की विशेषता है।

निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों से किसी विचारधारा का सम्बन्ध कैसे दिखाया जाता है, यह ज्दानोव ने मिसाल देकर समझाया है। पहला उद्धरण उन्होंने अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक से दिया है जिनमें उन्होंने शहरी आबादी के फीसदी जोड़कर जर्मनी के पिछड़ेपन और वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिक्रियावादी रूप का सम्बन्ध दिखाया है।

ज्दानोव ने इस पर यह आपत्ति की है कि उस समय फ्रांस की शहरी आबादी की फीसदी भी कम थी, लेकिन फ्रांस पिछड़ा हुआ सामंती देश न होकर यूरोप के पूँजीवादी-क्रान्तिकारी आन्दोलन का केन्द्र था। इससे साबित होता है कि ऐतिहासिक सामग्री के उपयोग का यह तरीका गलत है।

अलेग्जान्द्रोव से एक उद्धरण ज्दानोव ने और दिया है जो इस प्रकार है—'उस युग में जर्मन पूँजीपतियों के प्रमुख विचारकों ने—काण्ट और बाद को फिख्टे और हेगल ने—अपने आदर्शवादी दर्शन द्वारा, सूक्ष्म रूप में ( in an abstract form ), जर्मन यथार्थ की सङ्कीर्णता द्वारा निश्चित, उस युग के जर्मन पूँजीपतियों की विचारधारा को प्रकट किया था।

ज्दानोव ने इस पर लिखा है—'तथ्यों का यह निर्जीव, उदासीन और वस्तुवादी ( objectivist ) वर्णन है जिसमें यह समझ सकना नामुमकिन है कि जर्मन आदर्शवाद की उठान के सबब क्या थे। इससे जर्मनी के तत्कालीन परिस्थितियों की मार्क्सवादी विवेचना की तुलना कीजिये जो एक

सजीव लड़ाकू ( militant ) शैली में, पेश की गई है।'

इसके बाद ज्दानोव ने एंगेल्स से एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमें जर्मन आदर्शवाद को पनपने और बढ़ने देने वाली परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। साहित्य और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न बार-बार प्रगतिशील लेखकों के सामने आता है, इसलिए वह पूरा उद्धरण देना अनुचित न होगा।

जर्मनी की परिस्थितियों पर एंगेल्स—

'चारों तरफ सड़ाँध और घोर पतन की दुर्गंध फैली हुई थी। चैन किसी को न था। वणिज-व्यापार, उद्योग-धंधे और खेती-बाड़ी करीब-करीब चौपट थे। किसानों, व्यापारियों और कारखानेदारों पर खून चूसने वाली सरकार और बिगड़े हुए व्यापार की दोहरी मार थी। राजे-रईस देख रहे थे कि छोटों से कसकर रकम वसूल करने पर भी उनके बढ़ते हुए खर्चे पूरे नहीं पड़ते। हर चीज बिगड़ी हुई थी और हर देश में एक आम बेचैनी फैली हुई थी। शिक्षा नहीं, जनता के दिमाग पर असर डालने का साधन नहीं, आजाद प्रेस नहीं, पब्लिक स्पिरिट नहीं, दूसरे देशों से व्यापार नहीं; स्वार्थ ओछेपन को छोड़कर और कुछ भी नहीं। तमाम लोगों में एक घटिया, ओछा और पतित दूकानदारी का भाव घुसा हुआ था। हर चीज सड़ी-गली और ढहती हुई; अच्छे हेर-फेर की राई भर आशा नहीं; जाति में इतनी भी ताकत नहीं कि मृत संस्थाओं की सड़ती हुई लाशों को उठा कर फेंक दे।'

( 'नार्दर्न स्टार,' २५ अक्टूबर, १८४५ )

इतिहास की तरफ वह सजीव दृष्टिकोण न होने से अलेग्जान्द्रोव दार्शनिक धाराओं को सामाजिक परिस्थितियों से सही-सही नहीं जोड़ पाये।

ज्दानोव के अनुसार दर्शनशास्त्र के इतिहास को लिखने का एक उद्देश्य है। वह यह कि दर्शनशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में आगे बढ़ाया जाय, नये नियम निकाले जायँ, अमल के सिद्धांतों को परखा जाय और पुरानी धारणाओं की जगह नई धारणाएँ स्थापित की जायँ। यह उद्देश्य साफ-साफ सामने न होने से दर्शनशास्त्र का इतिहास लिखना आराम कुर्सी पर समाधि लगाने जैसा हो जाता है। ज्दानोव ने इस बात पर जोर दिया है कि मार्क्सवाद लेनिनवाद

को चरम विकास पर पहुँचा हुआ दर्शन मान लेना भारी भूल है। उसे पूर्ण इकाई मानना आधिभौतिक ( मेटाफिजिकल ) कल्पना है। उसे विकसित करना एक प्रमुख कार्य है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद प्राकृतिक विज्ञान की सफलताओं के आधार पर विकसित हुआ है—अलेग्जान्द्रोव ने यह सम्बन्ध नहीं दिखाया। ज्दानोव ने लेखक की प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों की मिसालें दी हैं। एंगेल्स ने कहा था कि द्वंद्वात्मक पद्धति के लिए तीन आविष्कारों ने मार्ग प्रशस्त किया था—सेल्यूलर थ्योरी ने, शक्ति के परिवर्तन और जमाव के सिद्धान्त ने और डारविन के सिद्धान्त ने। इसके बदले अलेग्जान्द्रोव ने १८वीं सदी के आविष्कारों के द्वंद्ववाद का नाता जोड़ा है।

पुस्तक की चर्चा समाप्त करते हुए ज्दानोव ने उसे दोहराने और ठीक करने पर जोर दिया, लेकिन यह चेतावनी दी कि यह काम तभी हो सकता है जब दर्शनकार अपनी भ्रान्तियों और उलझनों को दूर कर लें।

अपने भाषण के दूसरे भाग में ज्दानोव ने सोवियत सङ्घ में सैद्धान्तिक मोर्चे की खामियों का जिक्र किया है जिनसे ऊपर बताई हुई भूलें संभव हुईं। खास खामी दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में दूसरों की और अपनी आलोचना का अभाव है। ज्दानोव के अनुसार इस मोर्चे पर काम करने वाले मार्क्सवाद लेनिनवाद की मूल बातों से काफ़ी परिचित नहीं हैं और पूँजीवादी विचारधारा के अवशेष उनमें मौजूद हैं। बहुत से कार्यकर्ता अब भी यह नहीं समझते कि मार्क्सवाद लेनिनवाद एक सजीव, रचनात्मक ( क्रियेटिव ) सिद्धान्त है जो बराबर विकसित होता है और समाजवादी निर्माण तथा सामयिक प्राकृतिक विज्ञान की सफलताओं से समृद्ध होता है। अपने सिद्धांन्त के इस सजीव, क्रान्तिकारी पहलू को कम कर के आँकने से दर्शनशास्त्र और उसकी भूमिका ज़रूर नीचे गिरती है।'

अक्सर लोग पूछते हैं कि सोवियत सङ्घ में वर्ग संघर्ष मिट गया है, फिर वहाँ सामाजिक प्रगति किस तरह होती है? द्वन्द्ववाद के अनुसार विरोधी तत्वों के बिना अगर प्रगति असम्भव है तो फिर सोवियत सङ्घ के ये विरोधी तत्व कौन से हैं? ज्दानोव ने इन प्रश्नों का उत्तर देकर मार्क्सवादी दर्शन को विकसित

और समृद्ध करने का मार्ग दिखाया है—

'हमारे सोवियत समाज में, जहाँ परस्पर विरोधी वर्ग खत्म कर दिये गये हैं, नये-पुराने के बीच सङ्घर्ष और इसलिए निम्न से उच्च की ओर विकास, विरोधी वर्गों के सङ्घर्ष के रूप में और उलटफेर के रूप में नहीं होता, बल्कि वह आलोचना और स्व-समालोचना के रूप में होता है। हमारे विकास की यह मूल प्रेरक शक्ति है और पार्टी के हाथ में एक शक्तिशाली अस्त्र है। निर्विवाद रूप से यह गति का एक नया पहलू, विकास का एक नया रूप, द्वन्द्ववाद का एक नया नियम है।'

दर्शन के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को लागू करने का मतलब है विश्वपूँजीवाद की विचारधारा को खत्म करने के लिए अपने सैद्धान्तिक अस्त्र को पैना करना। जिस तरह राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में विश्वपूँजीवाद की ताकतों से समाजवाद और जनतन्त्र की शक्तियाँ लोहा ले रही हैं, उसी तरह विचार-क्षेत्र में भी मार्क्सवाद और पूँजीवाद की विरोधी विचार-धाराओं का सङ्घर्ष छिड़ा हुआ है। प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ जितना ही समाज में घर करती हैं, विश्व-पूँजीवाद को भी अपनी जिन्दगी बढ़ाने का उतना ही मौका मिलता है। इसलिये ज्दानोव ने लिखा है--

'हमें खोये हुए समय की कमी जल्दी ही पूरी करनी है। समस्याएँ राह नहीं देखतीं। महान् स्वाधीनता-संग्राम में समाजवाद की शानदार जीत, जो मार्क्सवाद की भी शानदार जीत थी, साम्राज्यवादियों के गले में हड्डी की तरह अटकी हुई है। मार्क्सवाद-विरोधी सङ्घर्ष का केन्द्र आज हटकर इंगलैंड और अमरीका पहुँच गया है। प्रतिक्रियावाद और रूढ़ियों की तमाम ताकतें मार्क्सवाद से लड़ने के लिए जुटा दी गई हैं। रूढ़िवाद और पोपपंथ के घिसे हुए हथियार फिर से पानी चढ़ाकर ऐटम-डालर जनतन्त्र द्वारा पूँजीवाद दर्शन को सेवा करने के लिए पेश कर दिये गये हैं। वैटिकन, नस्ल का सिद्धान्त, अंध राष्ट्रवाद, खोखला आदर्शवादी दर्शन, पैसे के गुलाम अखबार और पतित पूँजीवादी कला—सभी से काम लिया जा रहा है, लेकिन लगता है कि ये सब भी काफी नहीं समझे गये। आज मार्क्सवाद से 'सैद्धान्तिक' सङ्घर्ष के नाम पर रिजर्व फौजें इकट्ठा की

जा रही हैं। गुण्डे, दलाल, जासूस और दूसरे मुजरिमाना हरकत करने वाले लोग बटोरे जा रहे हैं।'

ज्दानोव ने एक फ्रांसीसी पुस्तक 'चोर की डायरी' (लेखक—जाँ जेने) से उद्धरण देकर अपनी बात पुष्ट की है। एडिंगटन और आइन्स्टाइन के सिद्धांतों और ऐटम वैज्ञानिकों के काण्टवाद आदि का रूप खुलासा करके बताया है कि वे पूँजीवादी विचारधारा के पोषक हैं।

ज्दानोव ने कहा है कि 'जनता की चेतना में, पूँजीवाद के अवशेषों पर, एक व्यापक हमला हो रहा है।' इसलिये दार्शनिकों का कर्तव्य है कि वे सैद्धांतिक मोर्चे के कार्यकर्ताओं में सबसे आगे हों। अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक पर विवाद और सोवियत सङ्घ में दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकों की खपत का हवाला देकर उन्होंने कहा कि उपर्युक्त काम पूरा किया जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य पर जो शाश्वतवादी यानी पूँजीवादी और सामन्ती विचारधाराएँ छायी हुई हैं; उनसे संघर्ष करने में खासतौर से यह भाषण मार्ग-दर्शन करेगा।

# उर्दू-साहित्य की सांस्कृतिक परंपरा

हिन्दी-उर्दू की समस्या का एक पहलू उनके साहित्य की परम्परा का भी है। हिन्दी और उर्दू एक भाषा है; या एक भाषा की दो शैलियाँ हैं, वे आगे चलकर मिलेंगी या उनमें से एक ही रह जायगी आदि मसलों को पेश करते हुए और उनका हल खोजते हुए इन दोनों की सांस्कृतिक परम्परा का सवाल भी उठाया जाता है।

उर्दू की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा क्या है? यह परम्परा हिन्दी की साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा से कहाँ तक अलग है? क्या दोनों की कोई सामान्य परम्परा भी है जिसे आगे विकसित किया जा सकता है?

इन प्रश्नों का जवाब देने से हिन्दी-उर्दू की समस्या को सही तौर से पेश करने और उसे हल करने में सहायता मिलेगी।

( १ )

उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा के बारे में एक मत यह है कि वह विदेशी है; उसी की वजह से देश के बँटवारे की नौबत आयी ( या वह परम्परा भी बँटवारे का एक कारण है ) ; इस परम्परा से हिन्दी का कोई समझौता नहीं हो सकता और दरअसल उस परम्परा को, चूँकि वह राष्ट्रद्रोही है; जल्दी से जल्दी खत्म कर देना चाहिये।

इस मत को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नये सभापति सेठ गोविन्ददास ने बड़ी धूमधाम से पेश किया है। इसी मत को श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री संपूर्णानन्द, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन आदि सज्जन भी पेश कर चुके हैं। सेठ गोविन्ददास ने उसे पेश करने में धूमधाम के अलावा किसी मौलिकता का परिचय नहीं दिया, इसलिए यहाँ पर श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी के शब्दों को उद्धृत करना ज्यादा अच्छा होगा, टंडन जी सम्मेलन के प्राण हैं। सम्मेलन के

सालाना सभापति जो मत प्रकट करते हैं, उनमें इन प्राणों की ध्वनि ही गूँजती रहती है।

सम्मेलन के ३५वें अधिवेशन में टंडनजी ने उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा पर ये विचार प्रकट किये थे :

'उर्दू कवियों की जो कविताएँ हुईं, वे अरब और ईरान के तहजीव की प्रतीक थीं। उर्दू कविताएँ हमें अपने नगर, अपने देश, गली-कूचों की ओर ले जाने के बजाय, ईरान और अरब के नगर तथा गली-कूचों की ओर ले जाती हैं। उसकी सांस्कृतिक परम्परा हमारे देश की, हमारी मिट्टी से निकली हुई जो संस्कृति है, उसके विपरीत है।

'उर्दू कवियों के रूपकों में उर्दू कविता का सांस्कृतिक प्रयत्न स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उनकी कविताओं में यदि वीर की उपमा दी जाती है तो रुस्तम, सोहराब' अफरासियाब को याद किया जाता है, कहीं पर आपको भीम, अर्जुन आदि की उपमा नहीं मिलेगी। नदी की उपमा जब आती है तो उन्हें अरब की, मेसोपोटामिया की और ईरान की नदियाँ याद आती हैं। पर्वत की याद होती हैं तो उन्हें ईरान के पहाड़ों की याद आती है, हिमालय पर्वत की याद नहीं आती। फूलों में उनको 'नर्गिस' की याद आती है। पक्षियों में उनको बुलबुल दिखायी पड़ती है, अपने देश के जो सुन्दर और अच्छे पक्षी हैं, उनकी चर्चा नहीं करते। उनका यह प्रयत्न था कि लखनऊ की गलियाँ 'अश्वाँ' बन जायँ। 'अश्वाँ' ईरान का एक नगर है। सरूर जो कि लखनऊ का कवि था उसका एक शेर 'फसाना अजायब' में यह है—'बुलबुले शीराज को है रश्क नासिख का शुरू। अश्वाँ इसने किये हैं, लखनऊ के कूचे और गलियाँ'। कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू का सांस्कृतिक का क्रम पृथक्वाद है और उसका परिणाम यह हुआ है कि जैसे-जैसे उर्दू का विकास हुआ, वैसे-वैसे सांस्कृतिक पृथकता बढ़ती गयी। जहाँ-जहाँ उर्दू का साम्राज्य था, वहाँ-वहाँ पृथक्वाद का विशेष बल था, जैसे उत्तर-प्रदेश और पञ्जाब में।...'

'उर्दू वालों ने हमें एक रास्ता दिखाया, हिन्दू-मुसलमानों का अलग करने का जो कुछ काँग्रेस ने प्रयत्न करके बनाया था, उसे पृथकता की भावना ने

तोड़-फोड़ दिया और हिन्दू और मुसलमानों के बीच में एक नाला बना दिया। वह परंपरा हमारे लिए जहर हो गयी, हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग फिरके हो गये।'

'इस समय सामाजिक प्रश्न है, रोटी का प्रश्न है, परन्तु मुख्य प्रश्न है बल देने का; छोटे-मोटे और भी प्रश्न हैं। उनकी ओर ध्यान तो देना ही है, परन्तु एक समय होता है जब मुख्य प्रश्न सामने लाना पड़ता है। आज यह आवश्यक है कि आगे का जो भविष्य बनावें, उसमें यह स्पष्ट रक्खें कि हमारा जो सांस्कृतिक श्रम होगा, वह एक होगा। मेरा निश्चित और स्पष्ट मत है कि उस परंपरा को, जिसके कारण हमने भूल खायी, हम पिट गये और जिससे देश का विभाजन हुआ, समाप्त करना है।' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पैंतिसवें अधिवेशन का विवरण; प्रयाग; पृ० ७६-८०)

यह सब कहने का सीधा मतलब यह है कि उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा अलगाव पैदा करती रही है, इसलिए उसे खत्म कर देना चाहिये। आगे जब टंडन जी कहते हैं कि 'मुझे उर्दू कविता अच्छी लगती है,' तब उनसे पूछा जा सकता है कि इस राष्ट्र विरोधी कविता के अच्छा लगने का पाप आप जैसे विशुद्ध भारतीयता-प्रेमी से कैसे हो गया। अगर उर्दू की सांस्कृतिक परंपरा हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालती है तो इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि ऐसी परम्परा को खत्म कर देना चाहिए। ऐसी परम्परा तो फूटपरस्तों को ही अच्छी लग सकती है।

( २ )

उर्दू साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से पहली चीज यह दिखाई देती है कि उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा परिवर्तनशील रही है। जो परम्परा ज़ौक़ या दाग़ की थी, वही परम्परा ज्यों की त्यों जोश या कृष्णचन्द्र की नहीं है। हमें देखना चाहिए कि यह परम्परा पहले क्या थी और उसमें कौन-कौन-सी खास तब्दीलियाँ हुई हैं।

जिस तरह हम भारतेन्दु के पहले की हिन्दी कविता को मोटे तौर पर रीतिकालीन कविता कहते हैं, उसी तरह हाली के पहले की उर्दू कविता को मोटे

तौर पर हम रीतिकालीन कविता कह सकते हैं।

इस जमाने की उर्दू कविता पर दरबारी संस्कृति की जबर्दस्त छाप है। उसके भावों और भाषा पर सामन्ती संस्कृति की छाप है। यह सामन्ती संस्कृति साहित्य में ईरानी साहित्य की परम्परा को अपनाती थी। उसने ईरानी साहित्य में प्रचलित उपमाओं, रूपकों वगैरह को अपने साहित्य में सजाने की कोशिश की।

हर देश के रीतिकालीन साहित्य में—उस समय के साहित्य में जब उद्योग-धन्धों के विकास से सामन्ती ढाँचा खत्म नहीं हुआ—बात कहने के ढङ्ग पर ज्यादा जोर दिया जाता है, भावों और विचारों की मौलिकता पर कम जोर दिया जाता है। हिन्दी का रीतिकालीन कविता, बिहारी और देव की रचनाओं में यह शैली हम देख सकते हैं। यही बात उर्दू की रीतिकालीन कविता पर भी लागू होती है।

आगे चलकर रीतिकालीन परम्परा ज्यादा साथ नहीं देती। उसमें चाहे भीम और अर्जुन का गुणगान हो चाहे सोहराब और अफ़ासियाब का, उस परम्परा से नाता तोड़ना ही पड़ता है। हिन्दी की रीतिकालीन परम्परा में रामायण और महाभारत के वीरों की कमी नहीं थी, फिर भी खड़ी बोली के कवियों ने उस परम्परा का जोरों से विरोध किया और छायावादी कवियों ने उससे नाता तोड़कर एक नयी परम्परा को जन्म दिया। उर्दु-साहित्य में भी उसकी रीतिकालीन परम्परा एक निर्जीव परम्परा हो गयी है। उर्दू-साहित्य उससे बहुत आगे बढ़ चुका है। रीतिकालीन परम्परा का विरोध करने और उससे नाता तोड़ने पर खुद उर्दू के लेखकों और कवियों ने जोर दिया है।

जैसे हिन्दी में भारतेन्दु से पहले की सभी रीतिकालीन कविता ऐसी नहीं है, जिसे उठाकर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय। उसी तरह उर्दू की रीतिकालीन कविता में बहुत-सा हिस्सा सांस्कृतिक परम्परा का एक अंग बनकर सुरक्षित रहेगा। उर्दू के बहुत से पुराने कवियों की ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ हैं जो अपनी उक्तिचातुरी की वजह से बार-बार उद्धृत की जाती हैं और अब उन्होंने बोलचाल में कहावतों की जगह ले ली है। मसलन्—

बड़ा शोर सुनते थे पहलू में दिल का
जो चीरा तो इक क़तरए ख़ूँ न निकला।

× × ×

ज़मीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या,
बदलता है रङ्ग आस्माँ कैसे-कैसे

× × ×

न ज़ोरे सिकन्दर न है क़ब्रे दारा,
मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे।

× × ×

अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएँगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएँगे।

× × ×

हज़रते दाग़ जहाँ बैठ गये बैठ गये
और होंगे तेरी महफिल से उभरनेवाले

इस तरह की पंक्तियाँ बोलचाल में इस तरह आती हैं कि उन्हें हिन्दुस्तानी ( खड़ी बोली ) बोलने वाली जनता की सांस्कृतिक परम्परा का एक अंग कहा जा सकता है।

हाली से पहले की उर्दू कविता की देन इतनी ही नहीं है। हाली से पहले भी बहुत से कवियों ने रीतिकालीन परम्परा से बँधे न रहकर अपना नया रास्ता बनाया था। इन कवियों में ग़ालिब का नाम सबसे पहले आता है जिनके व्यक्तित्व की छाप उनकी रचनाओं पर इस तरह पड़ी है जिस तरह अपने व्यक्तित्व की छाप डालना किसी भी रीतिकालीन कवि के लिए मुमकिन नहीं है। ग़ालिब ने अपने जीवन के बारे में बड़े दर्द से लिखा है। इस तरह का दर्द दूसरों की रचनाओं की नकल करने से नहीं पैदा होता। इटली के महान् कवि दांते ने जिस तरह अपने जीवन की अपार वेदना अपने महाकाव्य में उँड़ेल दी थी, उसी तरह ग़ालिब के शेर उस जमाने के वातावरण के प्रति क्षोभ, ग्लानि और वेदना में डूबे हुए हैं। ग़ालिब ने मानों रीतिकालीन परंपरा

को चुनौती देते हुए लिखा है।

इश्क को दिल में जगह दे ग़ालिब,
इल्म से शायरी नहीं होती।

ग़ालिब के जमाने में बहुत से लोग इल्म की शायरी करते थे। वे फ़ारसी साहित्य की उपमाएँ और रूपक लेकर अपनी रचनाओं को सँवारने की कोशिश करते थे। इन सब में फ़ारसी साहित्य से प्रभावित होते हुए भी ग़ालिब एक महान् प्रतिभाशाली कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

ग़ालिब की पचीसों पंक्तियाँ साधारण बोलचाल में बराबर उद्धृत की जाती हैं। मिसाल के लिए—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन,
दिल के खुश करने को ग़ालिब य' खयाल अच्छा है।

× × ×

उनको देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

× × ×

कर्ज की पीते थे मय लेकिन समझते थे कि हाँ,
रंग लायेगी हमारी फ़ाक़ामस्ती एक दिन।

× × ×

रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ायल,
जो आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है।

× × ×

न था कुछ तो खुदा था कुछ न होता तो खुदा होता,
डुबोया मुझको उन्होंने न हो होता मैं तो क्या होता।

× × ×

मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसाँ हो गयीं।

× × ×

दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।

× × ×

है कुछ ऐसी ही बात जो चुप हूँ,
वरना क्या बात करनी नहीं आती।
इत्यादि।

अनेक हिन्दी लेखकों की रचनाओं में ग़ालिब के शेर उद्धृत किये जाते हैं। उग्रजी की शायद ही कोई पुस्तक, शायद ही कोई लेख हो जिसमें ग़ालिब के शेर उद्धृत न किये गये हों। निरालाजी ने जहाँ-तहाँ ग़ालिब के शेर उद्धृत ही नहीं किये, उन पर 'प्रबन्ध पद्य' में लिखा भी है। ग़ालिब की रचनाएँ किस तरह हिन्दी लेखकों की सांस्कृतिक परम्परा बन गयी हैं, इसकी एक मिसाल निरालाजी के जीवन में मिलती है। निरालाजी को अपने जीवन में जो मुसीबतें उठानी पड़ी हैं, जो अपमान सहने पड़े हैं और जिस तरह विरोधियों के मुकाबले में अपने आत्म-विश्वास को अडिग रखना पड़ा है, उससे ग़ालिब की रचनाओं से उन्हें एक आन्तरिक सहानुभूति पैदा हो गयी थी। मैंने उन्हें पचीसों बार इन पंक्तियों को गाते सुना है और आखिरी बार अभी पिछले साल बनारस में जब वह काफी अस्वस्थ थे, उन्हें फिर गालिब के शेर गुनगुनाते सुनकर काफी ताज्जुब भी हुआ कि इनके मन की दुनियाँ में और बहुत से उलट-फेर हुए, लेकिन ग़ालिब, रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास ये तीन महाकवि अपनी जगह अब भी कायम हैं।

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हमसखुन कोई न हो और हमज़बाँ कोई न हो।
बे दरो दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पासबाँ कोई न हो।
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार
और अगर मर जाइये तो नौहाख्वाँ कोई न हो।

जब श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उर्दू की सांस्कृतिक परम्परा को विदेशी और राष्ट्रविरोधी कहकर उस पर हमला करते हैं, तब हम यह सोचने पर मजबूर होते

हैं कि हिन्दी की सांस्कृतिक परम्परा को 'निराला' की देन महान् है या श्री टंडन की देन महान् है। निराला की देन महान् है और इसीलिए महान् है कि उन के हृदय में वह संकीर्ण साम्प्रदायिकता नहीं थी जिसका परिचय श्री टंडन ने बार-बार दिया है। संकीर्ण हृदय के महान् सांस्कृतिक परम्परा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

ग़ालिब के बाद पुरानी उर्दू कविता के दूसरे महान् रचनाकार मीर हैं। मीर की बहुत-सी रचनाओं में रीतिकालीन परम्परा से साफ़ नाता टूटा हुआ दिखाई देता है। कौन-सा रीतिकालीन कवि अपने घर का इस यथार्थ ढंग से वर्णन करेगा—

> लोनी लग लग के झड़ती है माटी,
> आह क्या उम्र बेमज़ा काटी।
> झाड़ बाँधा है मेह ने दिन-रात,
> घर की दीवारें हैंगी जैसे पात।
> बाउ में काँपते हैं जो थरथर,
> उन पै रद्दा रखे कोई क्यों कर। इत्यादि।

मीर की भी अनेक पंक्तियाँ कहावतों का दर्जा पा चुकी हैं जैसे ये—

> शाम से कुछ बुझा-सा रहता है,
> दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिस का।

हाली से पहले जिन लोगों ने रीतिकालीन परम्परा से नाता तोड़ा, उनमें नज़ीर का नाम महत्वपूर्ण है। नज़ीर के काव्य में लोक गीतों, कहावतों और लोक संस्कृति को जो स्थान दिया गया है, उससे आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। नज़ीर जनता के कवि थे उन्होंने आम जनता की जिन्दगी के बारे में बड़ी सजीव रचनाएँ की हैं। इनकी भाषा के बारे में श्री व्रजरत्नदास ने लिखा है :

'इनकी भाषा देशी थी और उसे विलायती बनाने का कभी इन्होंने प्रयत्न नहीं किया। इनकी चलती भाषा पर पूरा अधिकार था और फारसी तथा अरबी के कोषों से चुन-चुनकर अपनी भाषा को लद्दू बनाने की आवश्यकता नहीं

पड़ी। जैसा विषय चुना, वैसी ही भाषा ली और वैसे ही वास्तविकता से उनका चित्रण भी कर डाला।'

( उर्दू साहित्य का इतिहास; बनारस; सं० १६६१; पृ० १८२ )

नजीर की बहुत-सी रचनाओं पर सूफ़ीपन का रंग है। दरअसल उनकी कविता की जड़ें उस जमाने के समाज में दूर तक चली गयी थीं। वह आदर्श-वादी कवियों की तरह गरीबी का गुणगान नहीं करते बल्कि इन्सान की उन मुसीबतों का बयान करते हैं जो गरीबी के सबब से उस पर आती हैं।

लिखा है—

जब आदमी के हाल पै आती है मुफ़लिसी,
किस-किस तरह से उसको सताती है मुफ़लिसी।
प्यासा तमाम रोज बिठाती है मुफ़लिसी,
भूखा तमाम रात सुलाती है मुफ़लिसी,
ये दुख वो जाने किस पै कि आती है मुफ़लिसी।
इत्यादि।

१६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में देश के अन्दर नयी राष्ट्रीय चेतना विकसित होने लगी। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किस तरह देशभक्ति-पूर्ण कविताओं की परम्परा चलायी, इसे सभी लोग जानते हैं। उस समय की राष्ट्रीय चेतना पर पुनरुत्थानवाद का भी रंग चढ़ा हुआ था। भारतेन्दु बाबू ने आर्य जाति के प्राचीन गौरव के गीत गाये। हाली ने मुसलमानों के बीते वैभव के स्वप्न देखे। फिर भी हाली और भारतेन्दु—दोनों ने ही यह अनुभव कर लिया था कि देश की उन्नति हिन्दू-मुसलमानों के मेल से और उनकी मिली-जुली राष्ट्रीय चेतना से ही हो सकती है। हाली ने देश पर लिखा था—

ऐ वतन ऐ मेरे बहिश्ते बरीं,
क्या हुए तेरे आसमाँ और जमीं।
रात और दिन का वो समाँ न रहा,
वो ज़मी और वो आसमाँ न रहा।

हिन्दू-मुस्लिम एकता पर लिखा था—

तुम अगर चाहते हो मुल्क की खैर,
न किसी हम वतन को समझो ग़ैर।
हो मुसल्माँ इसमें या हिन्दू
बौद्ध मज़हब हो कि या ब्राह्मो,
सबको मीठी निगाह से देखो।
समझो आँखों की पुतलियाँ सबको।
हिन्द में इत्तफाक होता अगर
खाते गैरों की ठोकरें क्योंकर?
इत्यादि।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल में जैसे सामाजिक कुरीतियों पर बहुत-सी रचनाएँ की गयीं, उसी तरह उर्दू साहित्य में भी समाज-सुधार पर बहुत-सी चीजें लिखी गयीं। बीसवीं सदी में आकर साहित्य का मतलब मुख्य रूप से कविता नहीं रहता; उसके दूसरे रूप कहानी, उपन्यास, आलोचना वगैरह भी फलने-फूलने लगते हैं। इस नये जमाने का हिन्दी-उर्दू साहित्य और भी नजदीकी सांस्कृतिक परम्पराएँ बनाता हुआ चलता है।

हिन्दी उपन्यासों में देवकी नन्दन खत्री के ऐयारी उपन्यासों के बाद हम प्रेमचन्द के सामाजिक समस्याओं वाले उपन्यासों तक पहुँचते हैं। उर्दू में पं० रतननाथ सरशार के फ़िसान-ए-आजाद से आगे बढ़ते हुए हम फिर प्रेमचन्द तक पहुँचते हैं। प्रेमचन्द ने हिन्दी से पहले उर्दू में लिखना शुरू किया था। उर्दू और हिन्दी में उन्होंने ही सामाजिक समस्याओं वाले उपन्यासों की नींव डाली। प्रेमचन्द में हिन्दी-उर्दू की सांस्कृतिक परम्पराओं का मिल कर एक होना साहित्य की बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। उससे जाहिर होता है कि सांस्कृतिक परम्परा की जड़ें सामन्ती साहित्य के ज्यादा मौजूदा सामाजिक जिन्दगी में धँसी होती हैं। प्रेमचन्द के जमाने में एक नयी परम्परा गढ़ी जा रही थी जिसके तत्व इस्लाम या हिन्दू-धर्म से न लिये जाकर देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों से, समाज की नयी प्रगति से, वर्गों के नये सम्बन्ध से लिये जा रहे

थे। प्रेमचन्द ने हिन्दी और उर्दू में जो एक नयी परम्परा डाली, वह गुणात्मक रूप से (qualitatively) साहित्य की पुरानी परम्परा से भिन्न थी। वह दाग, जौक, बिहारी, पद्माकर की परम्परा से ही भिन्न न थी, वह हाली और भारतेन्दु की परम्परा से भी काफी अलग थी। प्रेमचन्द साहित्य के विकास की वह मंजिल थे जो अपने में सुधारवादी राष्ट्रीयता खत्म करके नये प्रगतिशील साहित्य की तरफ इशारा करती है।

प्रेमचन्द एक नयी परम्परा को इसलिये जन्म दे सके कि हमारे समाज में नये परिवर्तन हो रहे थे, उसमें नयी आशाएँ नये उद्देश्य लेकर नये आन्दोलन चल रहे थे।

हिन्दी-उर्दू साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि संस्कृति रचने का काम मनुष्य का सामाजिक जीवन करता है। यह सामाजिक जीवन बदलता रहता है, इसलिये संस्कृति की धारा भी बदलती रहती है। सामाजिक जीवन के मुकाबले में धर्म सम्प्रदाय मत-मतान्तरों के संस्कार बहुत ही कमजोर साबित होते हैं, और संस्कृति पर उनका असर कम से कम होता जाता है।

प्रेमचन्द खुद इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि सामन्तकाल की सांस्कृतिक परम्परा खत्म हो रही है और नये जमाने की एक नयी परम्परा कायम हो रही है। वे जानते थे कि दोनों के उद्देश्य, दोनों के साहित्यिक रूप, दोनों के सौन्दर्य-सम्बन्धी मानदण्ड अलग-अलग हैं।

पुरानी साहित्यिक परम्परा के बारे में उन्होंने लिखा था—

'हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसान-ए-अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति·····।

'क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी·····। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं।

'कला का नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्द योजना का भावनिबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनियाँ से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य वही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में वह सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे।'

(लखनऊ प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में सभापति पद से दिये गये भाषण से)

इस परम्परा को प्रेमचन्द खत्म कर रहे थे। उन्होंने साफ माँग की थी कि साहित्य के पुराने मानदण्डों को बदला जाय। उन्होंने कहा था :

'हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था···उसका निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी उनकी चर्चा करता भी था तो उनका मजाक उड़ाने के लिये।'

(उप०)

प्रेमचन्द का हर शब्द उनके सच्चे जनवादी हृदय से निकला है जो समाज के नये विकास के लिए, साहित्य की परम्परा बदलने के लिए जोर से ललकारता है।

उन्होंने साहित्य की नयी परम्परा के बारे में लिखा था :

'परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मनबहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से

दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की यह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।'

( ३५० )

इससे जाहिर है कि प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू साहित्य में एक नयी परम्परा के पिता हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से यह परम्परा हिन्दी-उर्दू साहित्य को एक करती है। और उनकी सबसे सबल और गतिशील परम्परा भी है। आज प्रेमचन्द के शब्द हमारा विश्वास दृढ़ करते हैं कि यह अत्याचारी समाज-व्यवस्था खत्म होगी और हमारा साहित्य उसे खत्म करने का एक साधन बनेगा। हम उनके इन शब्दों को वर्ग के साथ याद कर सकते हैं—

'हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौंदर्य, सुरुचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं; बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है···।

'यदि साहित्य के अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हों जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनियाँ बनाकर उसमें रोता और हँसता हो तो इस दुनियाँ में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।'

( ३५० )

प्रेमचन्द के ये सच्चे शब्द—उनके हृदय के ये सच्चे उद्गार बताते हैं कि साहित्य की जो परंपरा धार्मिक अन्धविश्वासों, साम्प्रदायिक, विद्वेष और भेदभाव सामन्ती रूढ़ियों और प्राचीनतावाद को अपना आधार बनाती है वह खत्म हो जाती है। साहित्य की वह परंपरा जो समाज के गतिशील जीवन को, उसके

क्रान्तिकारी वर्ग को, जनता के संघर्ष को, अपना आधार बनाती है, वह जीवित रहती और वहीं परंपरा जीवित रह सकती है। प्रेमचन्द ने हिन्दी-उर्दू में इसी परंपरा को जन्म दिया था।

कुछ लोगों के मन में शंका पैदा हो सकती है कि प्रेमचन्द ने तो यह सब काम हिन्दी में किया था, उसका जिक्र उर्दू साहित्य के सिलसिले में क्यों किय जा रहा है ? ऐसे पाठकों की सेवा में प्रेमचन्द्र के ये शब्द अर्पित हैं।

'मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता।'

(प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ० १६१)

हिन्दी-उर्दू के लिखने वालों का सामाजिक वातावरण आम तौर से एक-सा रहा है, इसलिए उनकी साहित्यिक परम्परा के उतार-चढ़ाव, उसके मोड़ और नयी दिशा में प्रवाह भी मिलते-जुलते रहे हैं। हिन्दी में रीतिकालीन परम्परा का विरोध किया गया। उर्दू में भी उस परम्परा का विरोध किया गया। हिन्दी में राष्ट्रीय कविता का युग आया, चकबस्त और इक़बाल यह युग उर्दू कविता में लाये।

हिन्दी-कविता में छायावाद के नाम से नयी रोमांटिक कविता का युग आया इस तरह के रोमांटिक कविता का युग उर्दू में भी आया।

गुलज़ार में कोयल की सदा गूँज रही है,
कोहसार में पुरशोर हवा गूँज रही है,
कुलकुल से जुनूँख़ेज फज़ा गूँज रही है,
मैदान में घनघोर घटा गूँज रही है,
बरसात है, बरसात है, बरसात है,
बरसात !

छायावादी कविता के उत्तरकाल में जैसे हिन्दी के कुछ कवियों ने निराशा, ऊब और अकेलेपन के गीत गाये, वैसे ही उर्दू में—

शहर की रात और मैं नाशाद ओ नाकारा फिरूँ,
जगमगाती जागती सड़कों पे आवारा फिरूँ,

ग़ैर की बस्ती है कब तक दरबदर मारा फिरूँ,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ ऐ वहशते दिल क्या करूँ,
यह रुपहली छाँव यह आकाश पर तारों का जाल,
जैसे सूफ़ी का तसव्वर, जैसे आशिक़ का ख़याल,
आह लेकिन कौन जाने कौन समझे जी का हाल,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ ऐ वहशते दिल क्या करूँ,

हिन्दी में जैसे कुछ कवियों ने प्राचीनतावाद को ऐसा साधन बनाया है कि साहित्य का पानी उतर जाय, उसी तरह उर्दू में भी अलगाव और फूट करने वाले, इस्लाम से उर्दू का नाता जोड़ने वाले, मुसलमानों को अलग जाति और उर्दू को अरब और ईरान की संस्कृति से मिलाने वाले शायर भी हुए हैं। लेकिन उनकी वजह से उर्दू-साहित्य को साम्प्रदायिक समझना उतनी ही बड़ी अक्लमंदी होगी जतनी किप्लिंग की वजह से अंग्रेजी साहित्य को साम्राज्यवादी समझना।

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का कहना है कि उर्दू वाले राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन वगैरह का नाम लेना अपनी संस्कृति के खिलाफ समझते हैं। अगर ऐसा है तो नजीर ने 'कन्हैया का बालपन' क्यों लिखा ? और लिखा तो ऐसों को जाति-बाहर क्यों नहीं कर दिया गया ? नजीर ने लिखा है :

यारो सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन,
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन
मोहन स्वरूप नृत्य करैया का बालपन,
बन-बन के ग्वाल गौएँ चरैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन।

नज़ीर ने दिवाली पर लिखा था :

हर इक मकान में जला फिर दिया दिवाली का
हर इक तरफ को उजाला हुआ दिवाली का,
सभी के दिल में समा भा गया दिवाली का,
किसी के दिल को मज़ा खुश लगा दिवाली का,
अजब बहार का है दिन बना दिवाली का।

होली पर दूसरे सुर-ताल में लिखा था :

जब फागुन रंग झमकते हों तब देख बहारें होली की,
और डफ़ के शोर खड़कते हों तब देख बहारें होली की।

नये युग के कवियों में साग़र निज़ामी ने कृष्ण के बाँसुरी बजाने इत्यादि पर लिखा है :

अब गोपाल झूमकर बन्सरी बजाओ फिर।
बन्सरी के कैफ से दिल को गुदगुदाओ फिर,
प्रेम और प्रीति की, रीति को जगाओ फिर,

× × ×

खुद ही तुम कमल बनो, खुद ही मुस्कराओ फिर,
बूयेगुल के रूप में, सबके पास जाओ फिर,
बन्सरी बजाओ फिर दो जहाँ पै छाओ फिर,
अय गोपाल झूमकर बन्सरी बजाओ फिर।

यहाँ पर अकबर इलाहाबादी का जिक्र करना उचित होगा, जिनके ढेरों शेर अनेक हिन्दी लेखकों की रचनाओं में उद्धृत किये हुए मिलेंगे। उनके बहुत से शेर कहावतों का दर्जा पा गये हैं :

खींचो न कमानों को न तलवार निकालो,
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

× × ×

क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
रंग लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।

अकबर की नजर अक्सर धार्मिक आस्था और पुरानी तहजीब पर रहती है। वह अंग्रेजियत के खिलाफ हैं लेकिन उसके बदले एक नयी जनवादी संस्कृति का नक्शा उनके सामने नहीं है। उनके जमाने की सीमाएँ भी थीं। फिर भी प्राचीनतावादियों पर कैसा व्यंग्य किया है :

पेट मसरूफ है किलर्की में
दिल है ईरान और टर्की में।

प्राचीनतावाद और कट्टरतावाद के खिलाफ बहुत से उर्दू कवियों ने लिखा है। यही सबब है कि वह अपने यहाँ एक जनवादी और प्रगतिशील परम्परा कायम कर सके हैं।

मुस्लिम प्राचीनतावादियों पर व्यंग्य करते हुए जोश ने लिखा है :

आ ही नहीं सकता मेरे मुँह लालाए बुज़दिल ( यानी बुजदिल लाला मेरी बराबरी नहीं कर सकता )

मैं पाक, वो नापाक, मैं गोरा हूँ, वो काला,
क्या उसका मेरा जिक्र, वो देशी मैं विदेशी,
मैं मिस्र की मस्जिद वो बनारस का शिवाला,
गंगा की हर इक लहर में गल्तीदा है पस्ती,
दजले की हर एक मौज में रक्साँ है हिमाला।

( प्राचीनतावादी मौलाना फर्माते हैं कि गंगा की लहरों में पस्ती है और दजला की मौजों में हिमालय का नज्जारा है ! ) जोश ने लिखा है कि शैतान मौलवी को यों फँसा लेता है :

यही कह कह के राह करता है गुम
कि खुदा के हो खानदान से तुम।

प्राचीनतावाद के विरोध के फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उर्दू कवियों ने बहुत सुन्दर रचनाएँ की हैं।

इकबाल ने लिखा था—

आ ग़ैरियत के पर्दे इक बार फिर उठा दें
बिछुड़ों को फिर मिला दें, नक्शे दुई मिटा दें।
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ एक नया शिवाला, इस देश में बसा दें।
दुनिया के तीरथों में ऊँचा हो अपना तीरथ,
दामाने आसमाँ में उसका कलस मिला दें।
हर सुबह उठके गायें मन्तर वो मीठे-मीठे,
सारे पुजारियों को मय पीत की पिला दें।

शक्ती भी शान्ति भी भक्तों के गीत में है
धरती के वासियों की मुक्ती पिरीत में है।

यह याद रखना चाहिए कि हिन्दू-मुस्लिम एकता की अडिग और पक्की नींव जनतंत्र ही है; भावुकता के आधार पर कायम की हुई एकता सिर्फ ईश्वर-अल्ला का नाम लेकर कायम की हुई एकता टिकाऊ नहीं हो सकती। बहुत काँग्रेसी नेता एकता का दम भरते थे; आज वह प्राचीनतावाद और हिन्दू सम्प्रदायवाद के भक्त नजर आते हैं। कारण यह है कि किसान-मजदूरों के आन्दोलन का विरोध करके, उनके संघर्ष को अपने लिए काल समझकर कोई भी एकता का हिमायती नहीं हो सकता। उसे एकता अपने लिए एक खतरा मालूम पड़ने लगती है। इक़बाल भी इस एकता को छोड़कर साम्प्रदायवाद की तरफ झुक गये थे।

उर्दू में अँग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ बहुत काफी और बहुत जोरदार कविताएँ लिखी गयी हैं। इन पर एक नजर डालने से ही जाहिर हो जाता है कि यह आरोप कितना झूठा है कि उर्दू के कवियों को अपने देश से प्रेम नहीं है। जोश ने खास तौर से साम्राज्य विरोधी आन्दोलन पर बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं।

लंदन में बादशाह सलामत के राजगद्दी पाने पर जोश ने हिन्दुस्तान के बारे में लिखा था—

'किश्वरे हिन्दोस्ताँ में रात को हंगामे ख़ाब,
करवटें रह-रह के लेता है फ़ज़ा में इनक़लाब,
गर्म है सोज़े बग़ावत से जवानों का दिमाग़,
आँधियाँ आने को हैं ऐ बादशाही के चिराग़,

× × ×

आपके ऐवान में रक्साँ हैं लपटें ऊद की,
हिन्दियों की साँस से आती है बू बारूद की।

साम्राज्यविरोधी आन्दोलन पर जोश ने लिखा था—

क्या हिन्द का जिन्दाँ काँप रहा है गूँज रही हैं तकबीरें
उकताए हैं शायद कुछ कैदी और तोड़ रहे हैं जंजीरें

× × ×

क्या उनको खबर थी, ओठों पर जो कुफ्ल लगाया करते थे,
एक रोज इसी खामोशी से टपकेंगी दहकती तकरीरें,
सँभलो कि वो जिन्दाँ गूँज उठा, झपटो कि वो कैदी छूट गये,
उट्ठो कि वो बैठी दीवारें, दौड़ो कि वो टूटी जंजीरें।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के फर्जन्दों से कहा था :—

इक कहानी वक्त लिक्खेगा नये मजमून की
जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून की।

जोश का साम्राज्यविरोध १५ अगस्त सन् '४७ के बाद गुमराह हो गया है। आजकल वह 'आजकल' के संपादक हैं। वह उन लोगों में हैं जो अपनी जनता का साथ छोड़ कर उस दल के साथ जा मिले हैं जो हिन्दुस्तास को साम्राज्य-वादी खेमे के साथ बाँधे हुए है। ऐसे ही लोगों में श्रीसुमित्रानन्दन पंत वगैरह हैं जो अपने साम्राज्यविरोध को 'आजाद' हिन्दुस्तान में जिन्दा नहीं रख पाये।

इस तरह हिंदी और उर्दू के कुछ कवियों की गुमराहियाँ भी अपनी एक मिली-जुली परम्परा रखती हैं।

( ४ )

उर्दू पर यह दोष लगाया जाता है कि उसमें फारसी की दस-पाँच बहरें ही काम में लायी जाती हैं और हिन्दी के हजारों छंदों के भंडार को अछूत छोड़ दिया गया है।

यहाँ पर पहले तो यह याद रखना चाहिए कि उर्दू बहरें अब सिर्फ उर्दू तक सीमित नहीं रहीं। हिन्दी में बहुत से कवियों ने उन्हें अपना लिया है और उनमें बेरोक रचनाएँ करते हैं। इस तरह की रचनाएँ वे कवि भी करते हैं, जो प्राचीनतावाद के उपासक हैं, जैसे—दिनकर।।

धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुँआँ-सा,

कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है,
मुँह को छिपा तिमिर में, क्यों तेज रो रहा है।

इसके अलावा फ़ारसी की बहरों और हिन्दी के छंदों में उतना फ़र्क नहीं है जितना कुछ लोग समझते हैं। श्री हरिशङ्कर शर्मा ने अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में ( पृ० १६ पर ) लिखा है—'उर्दू में इस्तेमाल होने वाले कुछ छंदों के नाम ये हैं—सुमेरु, विधाता, विहारी, शास्त्र, पीयूषवर्षा, भुजङ्गप्रयात, खरारी, हरिगीतिका, आनन्दवर्द्धक, दिग्पाल, भुजङ्गी, चौपाई आदि।' इससे यह तो जाहिर ही होता है कि छंदों के लिहाज से हिन्दी-उर्दू की सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच में कोई गहरी न पट सकने वाली खाई नहीं है।

छायावदी कवियों ने—खास कर निराला जी ने—जिस तरह मुक्तछंद लिखने की प्रथा डाली थी, उसी तरह उर्दू में बहुत से कवियों ने भी मुक्तछंद में रचनाएँ की हैं। लेकिन जो चीज हिन्दी-उर्दू कवियों को सबसे ज्यादा नजदीक लाती है, वह उनके गीत हैं। उर्दू कवि एक अर्से से गीत लिखते आये हैं। प्रगतिशील कवियों ने जो गीत लिखे हैं, वे रोमांटिक गीतों के तंग दायरे से निकलकर आम जनता के गले में रम चुके हैं। ऐसे गीत, एक-दो नहीं, सैकड़ों हैं। उर्दू-साहित्य का यह पहलू उसका सबसे लोकप्रिय और जनवादी रूप हमारे सामने लाता है। इन गीतों की सांस्कृतिक परम्परा एक ऐसी शक्तिशाली परंपरा है जो हिन्दी-उर्दू के बाकी भेद-भाव को दूर करने में बहुत बड़ी मदद करेगी। इन गीतों को देखने से पता चलता है कि जब हम जनता के सङ्घर्ष, उसकी मुसीबतों, आशाओं और आदर्शों को लेकर साहित्य रचते हैं, तब प्राचीनवाद के तमाम अलगाव पैदा करने वाले रूप आप से आप खत्म हो जाते हैं। हमारे जनता की संस्कृति एक है। हमारा साहित्य जितना ही जनता के नजदीक आता है, उतना ही उसकी सांस्कृतिक परंपरा प्राचीन से मुँह मोड़ कर अपने लिए मौजूदा जमाने से तत्व चुनती है। जनता की यह सबल सांस्कृतिक परंपरा पुराने जमाने की संस्कृति से सिर्फ वे चीजें लेती है जो उसमें धार्मिक अंधविश्वास और भेद-भाव पैदा करने के बदले उसे एकता, आजादी और जनतंत्र के नजदीक ले जाती हैं और जनवादी भावनाओं को मजबूत करती हैं।

उर्दू के कवियों ने हमारे जन-आन्दोलन को जो गीत दिये हैं, उनमें मख-दूम मुहीउद्दीन का गीत—'यह जंग है जंगे आजादी आजादी के परचम के तले' मजदूरवर्ग का अपना गीत है। बंगाल के अकाल पर वामिक का यह गीत लोक-प्रिय हो चुका है।

पूरब देस में डुग्गी बाजी फैला दुख का जाल,
दुख की अगनी कौन बुझाये सूख गये सब ताल,
जिन हाथों ने मोती रोले आज वही कंगाल,
रे साथी आज वही कंगाल !
भूखा है बंगाल !
भूखा है बङ्गाल रे साथी, भूखा है बङ्गाल !

इसी तरह मजाज़ का गीत 'बोल अरी ओ धरती बोल, राजसिंहासन डाँवा-डोल,' अली सर्दार जाफरी के कई गीत, प्रेम धवन का 'अरे अब भागो लन्दन जाओ' उर्दू में एक ऐसी परंपरा की नींव डाल चुके हैं जिसे हम हिन्दी-उर्दू की मिली-जुली परंपरा कह सकते हैं।

आधुनिक उर्दू-कविता उन तमाम रूपकों और कल्पनाओं से पीछा छुड़ा चुकी है जिन्हें श्री रघुपति सहाय फिराक ने 'सदा बहार और सदा सोहाग' कहा था। उन्होंने भारतेन्दु से लेकर निराला तक हिन्दी-साहित्य के तमाम विकास पर जो बुहारी फेर दी थी, उससे हिन्दी को उर्दू के नजदीक लाने में मदद न मिल सकती थी। इसके अलावा हिन्दी के तमाम विकास पर कीचड़ उछालने के बाद उन्होंने आदर्श रूप से जो शेर पेश किये थे और पुराने शाश्वत सौंदर्य की जो व्याख्या की थी, वह एक प्रतिक्रियावादी काम था, जिसका विरोध करना जरूरी था। पुराने रूपकों और प्राचीनतावाद का विरोध जिस तरह उर्दू के नये कवियों ने—खास तौर से प्रगतिशील कवियों ने—किया है, उसके लिए उनकी जितनी तारीफ की जाय, थोड़ी है। इस सिलसिले में सिब्ते हसन का लेख विशेष ध्यान देने योग्य है जिसमें उन्होंने इकबाल की जनतन्त्र विरोधी धारणाओं की आलोचना की थी। यह लेख 'नया अदब' में छपा था (जब 'नया अदब' लखनऊ से निकलता था)। जिस तरह हिन्दी की प्रगतिशील कविता पर वह

तोहमत लगायी जाती है कि उसने प्राचीन संस्कृति से नाता तोड़ लिया है, वह छिछली राजनीतिक और प्रचारात्मक हो गयी है वगैरह, उसी तरह उर्दू की प्रगतिशील कविता पर भी आरोप लगाये जाते रहे हैं। इनका जवाब देते हुए एहतेशाम हुसेन ने बहुत कुछ लिखा है और उन्होंने उर्दू में नयी तरह की आलोचना को आगे बढ़ाया है। उर्दू की आलोचना, उसके नाटक, कहानियाँ, उपन्यास आज उसी तरह नये रास्ते पर चल रहे हैं जिस तरह हिन्दी-साहित्य के ये रूप। उपन्यासों और कहानियों का सम्बन्ध अवाम की जिन्दगी से होता है, इसलिए इनमें प्राचीन रूपकों, अलङ्कारों वगैरह का असर नहीं के बराबर होता है। हिंदी के बहुत से पाठक 'हंस' में कृष्णचन्द्र की कहानियाँ, स्केच पढ़ चुके होंगे। खास तौर से रुद्रदत्त भारद्वाज पर उनका स्केच, तीन गुंडे नाम की कहानी यह जाहिर करती है कि उर्दू-साहित्य मौजूदा जिन्दगी से अपनी विषय-वस्तु चुनकर एक मिली-जुली जनवादी परंपरा बढ़ रहा है।

उर्दू की नयी कविता में पुरानी व्यवस्था का विरोध और जनतन्त्र की तरफ बढ़ने की ख्वाहिश पग-पग पर मिलती है। उर्दू कविता में देश-विदेश को महत्वपूर्ण घटनाओं, जन-आन्दोलनों की गहरी छाप है। रूस पर हिटलरी हमला, लाल फौज का वीरतापूर्ण संग्राम, बर्लिन की जीत, हिन्दुस्तान में क्रिप्समिशन का आना, देश का बँटवारा, साम्प्रदायिक दंगे, गाँधी जी की हत्या, 'आजाद' हिन्दुस्तान में जनता के आन्दोलनों पर दमन, नये जन-संघर्ष, इन सभी की तस्वीरें उर्दू कविता में मिलेंगी। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू की सांस्कृतिक परंपरा को आज वही घटना-क्रम, वही सामाजिक परिस्थितियाँ, वही जन-संघर्ष रच रहे हैं जो हिन्दी सांस्कृतिक परंपरा रच रहे हैं।

यह देखना मुश्किल नहीं है कि जौक और दाग की परम्परा से आज की उर्दू कविता की परम्परा बिल्कुल बदल गयी है। आज का कवि सरमायादारी को देखकर कहता है।

यह अपने हाथ में तहजीब का फानूस लेती है।<br>
मगर मजदूर के तन से लहू तक चूस लेती है।

× × ×

मुबारक दोस्तो लबरेज है अब इसका पैमाना,
उठाओ आँधियाँ, कमजोर है बुनियाद का शाना।

आज का कवि पूँजीवादी नेताशाही के बारे में यों लिखता है—

यह किससे फर्याद कर रही हो ?
यह किसको आवाज दे रही हो ?
तुम अपने जख्मों की राखियाँ लेके,
किसकी महफिल को जा रही हो ?
तुम्हारे ये राहबर नहीं हैं,
तुम्हारे ये दादगर नहीं हैं,
ये काठ की पुतलियाँ हैं जिनको,
सियासी पर्दों के पीछे बैठे हुए मदारी
सफेद रेशम की डोरियों पर नचा रहे हैं।
ये साम्राजी बिसाते शतरञ्ज के प्यादे हैं जिनको शातिर
हजारों चालों से शाहो फर्जी बना-बनाकर चला रहे हैं।

आज का उर्दू-कवि पूँजीवादी शोषण को देखकर पुकार उठता है—

नफाखोरों की निगाहों में लचकती तलवार,
बढ़ते जाते हैं शबोरोज ये सारे आसार,
कि इलाज इसका बगावत के सिवा कुछ भी नहीं।

इस तरह की सैकड़ों कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक वगैरह उर्दू में लिखे गये हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दुस्तान से है, सिन्दुस्तान की जनता से है, दुनियाँ के जनवादी मोर्चे से है। वे दिन बीत गये, जब दरबारी शायर अफीम खाते हुए, सदा सोहाग रूपकों पर निछावर होते रहते थे। उर्दू ने अपने लिए एक शानदार परंपरा बना ली है जिस पर उर्दू लेखक गर्व कर सकते हैं। इस परंपरा के तत्व वही हैं जो हिन्दी साहित्व की परंपरा के हैं। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री गोविन्ददास का इस परम्परा के बारे में क्या खयाल है ? वे इसके बारे में चुप क्यों रहते हैं ?

भाषा और संस्कृति को लेकर द्वेष भाव बढ़ाने की नीति उन लोगों की नीति

है जो जनता को गुलाम बना कर रखते हैं, जो इस तरह जनता को शिक्षा और संस्कृति के साधनों से दूर रखते हैं और इसलिए जो भाषा और संस्कृति के सब से बड़े दुश्मन हैं। इसीलिए हिन्दी लेखकों और पाठकों को इनसे सावधान रहना चाहिए। इनकी स्वार्थी राजनीति और सांस्कृतिक वस्त्रों में लपेटे हुए उनके जहरीले हथियारों का रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उनके लिए हर चीज जो बढ़ते हुए जन-आन्दोलनों में फूट डालती है, एक बरदान है। उनके लिए हर चीज जो जन-आन्दोलनों को मजबूत करके आगे बढ़ाती है एक शाप है। इसलिए हिन्दू-उर्दू लेखकों के लिए यह लाजमी हो जाता है कि वे एक-दूसरे की जनवादी परम्परा को और नजदीक से जाने-पहचानें और इन प्रतिक्रियावादी फूट-परस्तों का मिलकर मुकाबला करें। इसमें सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है कि प्रगतिशील लेखक इनकी चालों को विफल कर देंगे और अपने साहित्य की जनवादी परम्परा को ऐसे शानदार ढङ्ग से विकसित करेंगे कि उस पर हमीं नहीं, तमाम हिन्दुस्तान के लोगों को गर्व होगा।

मार्च १९४९

# साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार

आम तौर से लेलिन, की विचारधारा को समझने के लिए, लेनिन की रचनाओं के अलावा स्तालिन की दो प्रसिद्ध पुस्तकें 'लेलिनवाद की समस्या' और 'सोवियत संघ की कम्युनिष्ट पार्टी का इतिहास' पढ़ना जरूरी है। खास तौर से, जो लोग साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचारों को जानना चाहते हैं, उन्हें भी लेनिन की रचनाओं के अलावा इन दो प्रसिद्ध पुस्तकों को पढ़ना चाहिये।

साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार राजनीति या अर्थशास्त्र पर उनके विचारों से अलग नहीं हैं बल्कि उनसे अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दों में साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार लेनिनवाद का एक अटूट हिस्सा है। जिस तरह साम्राज्यवाद के पतनकाल और जन-क्रान्तियों के युग में लेनिवाद दुनियाँ के तमाम मेहनतकश मजदूरों का पैना, परखा हुआ और अचूक अस्त्र है, उसी तरह उन तमाम लेखकों के लिए जो पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के हाथों बिक नहीं गये, साहित्य और संस्कृति पर लेलिन के विचार एक जलती हुई मशाल है जो उन्हें लड़ाकू शोषित वर्गों के साथ-साथ सङ्घर्ष, विजय और नये निर्माण का रास्ता दिखाते हैं।

साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचारों का अध्ययन—या मार्क्स, एंगेल्स, स्तालिन के विचारों का अध्ययन—दो-चार लेखकों पर उनकी राय पढ़ कर नहीं किया जा सकता।

साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचारों तक पहुँचने के लिए उनके महान् ग्रन्थों के अलावा कोई और छोटी पगडण्डी नहीं है। इसलिए बेलिन्स्की, चर्निशीवस्क, हर्जन, तोल्स्तोय आदि लेखकों पर लेनिन के लेख और सम्मतियाँ पढ़ने के साथ-साथ उनकी दूसरी पुस्तकें भी पढ़नी चाहिये जिनका सीधा सम्बन्ध साहित्य और संस्कृति से नहीं है।

इस लेख का उद्देश्य यह है कि हम संक्षेप में लेनिन के साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से, उनकी आलोचना के तरीके से और सोवियत क्रान्ति के पहले और उसके बाद के साहित्य की समस्याओं पर उनके बताये हुए हल से परिचित हों। इसके अलावा इस लेख का उद्देश्य हिन्दी पाठकों और खास कर हिन्दी लेखकों का ध्यान लेनिन की उन रचनाओं की तरफ खींचना है जो हमारे साहित्य और संस्कृति के विकास में सही रास्ता दिखा सकती हैं।

( १ )

साहित्य और संस्कृति पर लेनिन के विचार मार्क्सवाद की बुनियाद पर कायम किये गये हैं। लेनिन ने मार्क्सवाद को अपनाया ही नहीं बल्कि सामाजिक विकास की नयी हालतों में उसे और भरापूरा भी बनाया है। मार्क्सवाद को भरापूरा बनाने के लिए लेनिन ने सबसे पहले सुधारवादी विचारधारा से मार्क्सवाद की रक्षा की है।

लेनिन ने यह काम शुरू की रचनाओं से लेकर बाद तक की रचनाओं में किया है। 'जनता के दोस्त कौन हैं'—इस किताब में उन्होंने १६वीं सदी के उन सुधारवादियों का पर्दाफाश किया है जो अपने को मार्क्सवादी कहते थे लेकिन वर्ग-सङ्घर्ष की धारणा से अपरिचित थे। जो यह नहीं जानते कि पूँजीवादी समाज में विरोधों का होना लाज़मी है और जो यह नहीं जानते थे कि मजदूर-वर्ग को एक क्रान्तिकारी भूमिका पूरी करनी है। लेनिन ने यह दिखाया कि मार्क्स अपने सिद्धान्तों को स्वभाव से ही आलोचनात्मक और क्रान्तिकारी समझते थे।

यहाँ पर आलोचनात्मक शब्द के साथ लेनिन का एक फुटनोट है। फुटनोट में लेनिन ने आलोचनात्मक शब्द की व्याख्या की है। मार्क्स का मतलब किस तरह की आलोचना से था जिसे वह अपने सिद्धान्तों की विशेषता समझते थे?

लेनिन ने लिखा है :

'यह बात नोट करनी चाहिये कि मार्क्स ने यहाँ भौतिकवादी आलोचना की बात कही है। इस तरह की आलोचना को ही वह वैज्ञानिक आलोचना मानते थे। यह आलोचना राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक और दूसरी बातों की

तुलना अर्थनीति से, पैदावार के सम्बन्धों के ढाँचे से, उन वर्गों के हितों से करती है जो लाजमी तौर से सभी विरोधी सामाजिक सम्बन्धों से पैदा हो जाते हैं।' (मार्क्स, एंगेल्स, मार्क्सिज़्म, अं० सं० पृ० ९६)

अपने फुटनोट में भौतिकवादी आलोचना की यह साफ-सुथरी व्याख्या करके लेनिन ने उन तमाम लोगों का मार्ग-प्रदर्शन किया है जिनका काम अर्थ-शास्त्र पर सीधे न लिखकर राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक और दूसरी बातों' (यानी साहित्य और संस्कृति पर) लिखना होता है। लेनिन की व्याख्या से यह बात साफ हो जाती है कि साहित्य का मार्क्सवादी आलोचक वही बन सकता है जो साहित्य के भावों, विचारों और रूपों को उन वर्गों के हितों के साथ मिलाकर परखे जो लाज़मी तौर से सामाजिक विरोधों के कारण पैदा होते हैं।

यहाँ पर कुछ लोग कहेंगे कि समाज में वर्गों का होना कैसे साबित होता है ? ज़ारशाही रूस में ऐसे लोग मौजूद थे जो वर्गों और उनके आपसी विरोध से इन्कार करते थे।

'नौजवान सभाओं के कर्तव्य' नाम के भाषण में लेनिन ने वर्गों की बहुत सीधी-सादी व्याख्या की है :—'वर्ग वे हैं जिनसे समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से की मेहनत हड़प लेता है।' (उप० पृ० ४६२)

समाज में जब तक एक हिस्से की मेहनत को दूसरा हिस्सा हड़पता जायगा, तब तक समाज में वर्ग भी कायम रहेंगे और उनका विरोध भी बना रहेगा। इस तरह के समाज के लिए मार्क्सवाद का महत्व किस बात में है ? क्या मार्क्सवाद मेहनत को हड़पने और वर्गों को खत्म करने का रास्ता दिखाता है ?

लेनिन ने मार्क्सवाद की विशेषता यह बताई है कि—

'यह थ्योरी आधुनिक समाज में विरोध और शोषण के तमाम रूपों को सीधे-सीधे ज़ाहिर करना शुरू करती है, वह पता लगाती है कि उनका विकास कैसे-कैसे हुआ है, वह बताती है कि वे क्षणभंगुर क्यों हैं, दूसरे रूपों में उनका बदलना लाजमी क्यों है; और इस तरह वह सर्वहारा वर्ग की मदद करती है कि वह जितनी जल्दी और जितनी आसानी से हो सके, सभी तरह के शोषण को खत्म कर दे।' (उप० पृष्ठ ९६)

लेनिन के ये शब्द मार्क्सवाद की आम व्याख्या ही नहीं करते, वे खासतौर से मार्क्सवादी साहित्य और मार्क्सवादी आलोचना की व्याख्या भी करते हैं।

मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य मार्क्सवाद के अनुकूल ही हो सकता है। अगर मार्क्सवादी का उद्देश्य समाज के विरोधों और रूपों को जाहिर करना है, तो मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य उन्हें मूँद-ढाँक कर रखना नहीं हो सकता।

अगर मार्क्सवाद का उद्देश्य यह बताना है कि समाज के ये विरोध और शोषण के रूप किस तरह पैदा हुए हैं, उनका बदलना लाजमी है, शाश्वत और अमर नहीं है, तो मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य भी यह नहीं हो सकता कि वह पूँजीवादी समाज के सम्बन्धों को शाश्वत और अमर कह कर पेश करे।

अगर मार्क्सवाद का उद्देश्य है कि वह सभी तरह का शोषण खत्म करने में सर्वहारा वर्ग की मदद करे तो मार्क्सवादी साहित्य का उद्देश्य यह नहीं हो सकता कि वह सर्वहारावर्ग के इस काम में सहायता न करे, उसमें बाधा डाले या तटस्थ बना रहने की कोशिश करे।

सुधारवादियों का विरोध करते हुए लेनिन ने मार्क्सवाद की जो व्याख्या की है, उसी से साहित्य और संस्कृति के बारे में उनकी तमाम धारणाएँ स्वाभाविक रूप से फूटती और पल्लवित होती हैं।

( २ )

मार्क्सवाद की ऊपर दी हुई व्याख्या से यह धारणा स्वाभाविक रूप से प्रकट होती है कि वर्ग-युक्त समाज का साहित्य कभी भी वर्गहितों, वर्ग-विरोध और सामाजिक असंगतियों से परे नहीं हो सकता। या तो वह शासकवर्ग का हित साधने वाला साहित्य होगा, यह शोषित वर्ग के हितों को प्रकट करेगा। अगर वर्ग-भेद धुँधला हुआ, वर्ग-संघर्ष तीखा न हुआ, समाज के दो वर्ग मुहोंमुँह आखिरी लड़ाई के लिए तैयार दिखाई न दिये तो साहित्य में सामाजिक विकास की ये सीमाएँ, वर्गों के परस्पर सम्बन्ध का धुँधलापन भी उसमें जाहिर होगा।

अनेक रूसी लेखकों पर लेनिन ने जो आलोचनाएँ लिखी हैं या उन पर राय जाहिर की है, उनका महत्व सबसे ज्यादा इस बात में है कि वे साहित्य के वर्ग-आधार को प्रकट करती हैं।

'काउंट हेडन की स्मृति में' नाम के लेख में लेनिन ने दिखाया है कि वर्ग-हितों से परे मानवतावाद का स्वाँग भरने वाली शिक्षा और संस्कृति का किस तरह पर्दाफ़ाश करना चाहिए।

हेडन एक क्रान्तिविरोधी 'शिक्षित' और 'संस्कृत' जमींदार था। रूस के सुधारवादी नेता उसकी शिक्षा और संस्कृति पर निछावर हो-हो जाते थे। उसकी मृत्यु पर आठ-आठ आँसू बहाते हुए उन्होंने शोकपूर्ण लेख लिखे। उन्होंने मानवतावाद के नाम पर जनता से यह छिपाया कि हेडन हमेशा जमींदारों के वर्गहितों की रक्षा करता रहा था और वह क्रान्तिविरोधियों का साथी था।

हेडन ने उस प्रतिक्रियावादी पार्टी की नींव डाली थी जो जार के मन्त्री स्तोलीपिन के काले कारनामों का समर्थन करती थी। वह विधान बनाने में भी दिलचस्पी दिखाता था और इससे पूँजीवादी लेखक यह नतीजा निकालते थे कि वह भी आजादी और जनतन्त्र चाहता है और इसलिए विधान बनाने में दिलचस्पी दिखाता है।

लेनिन ने बताया कि विधान से उसकी दिलचस्पी सिर्फ इतनी है कि जनता को लूटने का ढङ्ग और नफ़ीस बनाया जाय। लेनिन ने तुर्गनेव की कहानी का हवाला देकर बताया कि हेडन की मानवतावादी संस्कृति उस जमींदार की-सी है जो अपने खादिम को खुद न पीट कर उसे दूसरों से पिटवाता है।

लेनिन ने चुभते व्यंग्य के ज़रिये जमींदारों की मानवतावादी संस्कृति की बखिया उधेड़ दी। उनका यह लेख इस बात की मिसाल है कि प्रतिक्रियावादी वर्गों के 'मानवतावाद' और उनकी संस्कृति के छिपे हुए तत्व को किस तरह प्रकट करना चाहिये।

लेनिन की रचनाओं में अक्सर उदारपंथी पूँजीवादियों का जिक्र आता है। ये उदारपंथी पूँजीवादी कौन थे? उदारपंथी पूँजीवादी वे पूँजीवादी थे जो ऊपर से जारशाही का विरोध करते थे, लेकिन जनता की क्रान्तिकारी मुहीम से जिनकी रूह काँपती थी।

लेनिन ने जार के खिलाफ जनवादी क्रान्ति में मजदूर वर्ग की अगुवाई का नारा लगाया था और यह कहा था कि उदारपंथी पूँजीपति वर्ग को कोने में

धक्किया देना चाहिये। लेनिन ने इस बात का ध्यान रखा था कि जनता इन उदारपंथी पूँजीवादियों के भुलावे में न आये, बल्कि मजदूर वर्ग की अगुवाई में जारशाही का खात्मा करके सीधे समाजवादी क्रान्ति की तरफ बढ़े। अपनी राजनीतिक रचनाओं में लेनिन ने उदारपन्थी पूँजीवादियों की नीति का हमेशा पर्दा फाश किया। साहित्य और संस्कृति के मैदान में भी उन्होंने इनका असर खत्म करने में कुछ उठा नहीं रखा।

१६०५ की रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन ने तोलस्तोय पर एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने दो तरह से पत्रकारों का जिक्र किया—एक तो सरकारी हुक्म की तामील करने वाले भाड़े के टट्टू थे और दूसरे उदारपंथी पूँजीवादी। इन दोनों की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा—

'इन भाड़े के टट्टुओं को अच्छा भाड़ा मिलता है, इस बात को सभी लोग जानते हैं और वे किसी की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते। लेकिन उदारपंथियों की धूर्तता ज्यादा चतुराई लिये हुए है और इसलिए वह ज्यादा हानिकर और खतरनाक है।'

इसके बाद लेनिन ने इनकी धूर्तता की मिसाल दी है और बताया है कि वे अचानक तोल्स्तोय के साहित्य से क्यों प्रेम करने लगे हैं।

'रेच अखबार के कैडेट पंथी लेखक बलालाइकिन जैसे लोगों के लेख पढ़िये तो मालूम होगा कि उनका हृदय तोल्स्तोय के लिए घोर सहानुभूति से ओतप्रोत है। वास्तव में यह सोच-विचार कर रची हुई प्रशंसा और वक्तृता का शब्द-जाल—कि तोलस्तोय ईश्वर का एक महान् अन्वेषक था बिलकुल झूठ है। रूसी उदारपंथी को न तो तोलस्तोय के ईश्वर में विश्वास है और न उसे उस नुक्ताचीनी से कोई हमदर्दी है जो तोलस्तोय ने उस समय की समाज-व्यवस्था की थी। अपनी राजनीतिक पूँजी बढ़ाने के लिए उदारपंथी भी एक लोकप्रिय नाम की माला जपने लगता है। इस तरह वह देश की विद्रोही शक्तियों के नेता का पार्ट अदा करने पर तुल जाता है।'

यहाँ पर लेनिन ने आलोचना-साहित्य पर सीधा मार्क्सवाद का प्रकाश डाला है। पचीसों पूँजीवादी लेखक तोलस्तोय की तारीफ के पुल बाँधने में लगे

थे। तोल्स्तोय ने समाज की जो आलोचना की थी उसे वे गोल कर जाते थे, उनके धार्मिक अंधविश्वासों वाले हिस्से को वे ले उड़ते थे। उनकी इस एकांगी आलोचना का कारण अज्ञान नहीं था, बल्कि उनका छिपा हुआ वर्ग-स्वार्थ था। लेनिन ने दिखाया कि ये तोल्स्तोय की तारीफ के पुल इसलिए बाँध रहे हैं कि एक लोकप्रिय नाम के सहारे जनता की आँखों से अपना स्वार्थी रूप छिपा लें और क्रान्तिकारी आवाज के उठाने को वर्ग-सहयोग की तरफ मोड़कर पूँजीवादी शोषण कायम रखें।

लेनिन ने यह एक मिसाल पेश की है कि पूँजीवादी लेखकों और पत्रकारों के साहित्य-प्रेम की असलियत किस तरह जाहिर करनी चाहिये।

हर्जन पर अपने लेख के शुरू में लेनिन ने उदारपंथी पूँजीवादियों की फिर खबर ली है। उन्होंने दिखाया है कि पूँजीवादी अखबार हर्ज़न की जोरों से तारीफ करने में लगे हैं, लेनिन वे इस बात की पूरी कोशिश कर रहे हैं कि उसका क्रान्तिकारी पहलू जनता के सामने न आने पाये।

लेनिन ने इस प्रशंसात्मक आलोचना का भंडाफोड़ किया और हर्ज़न के विचारों की सीमाएँ प्रकट करते हुए उनके क्रान्तिकारी पहलू पर प्रकाश डाला। उन्होंने आलोचना की कसौटी इस बात को बनाया कि मजदूर वर्ग के सङ्घर्ष के लिए हर्ज़न की कौन-सी बातें उस संघर्ष में रुकावट डालती हैं।

लेनिन ने साहित्य को इस वर्ग-कसौटी पर परखा, इसलिए उनकी आलोचना तीर की तरह निशाने पर बैठी। उनकी बातें लगी-लिपटीं न होकर साफ-सुथरी और साहित्य पर मार्क्सवाद की तेज़ रोशनी डालने वाली हुईं।

लेनिन ने हर्ज़न की प्रशंसा से सन्तोष नहीं किया। उन्होंने यह भी बताया कि १८४८ के बाद हर्जन घोर निराशावाद में डूब गया और उसके विचारों की नाव जैसे बिना पतवार के हो गई। लेनिन ने इसका कारण बताया। हर्जन को समाजवाद के बारे में कुछ पूँजीवादी भ्रांतियाँ थीं। पूँजीवादी जनतन्त्र के क्रांतिकारीपन से हर्जन का विश्वास उठ गया था; लेकिन उस समय तक समाजवादी मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारीपन परिपक्व न हुआ था। हर्जन के निराशावाद का यह ऐतिहासिक कारण था।

लेनिन ने दिखाया कि पूँजीवादी लेखक इस ऐतिहासिक कारण पर पर्दा डाल रहे हैं। वे हर्जन के निराशावाद और सन्देहवाद की तारीफ करके खुद अपने क्रान्तिविरोधी रूप को छिपा रहे हैं। लेनिन की निगाह से हर्जन के प्रशंसकों का क्रान्तिविरोधी वर्ग-स्वार्थ छिपा नहीं रहता; वह उसे उघार कर जनता के सामने पेश कर देते हैं। उन्होंने उदारपन्थी पूँजीवादियों के लिए लिखा है कि ये वे वीर हैं जिन्होंने १६०५ की क्रान्ति से गद्दारी की थी। इनका उदारपंथ वह घृणित और पाशविक वस्तु है जिसने १८४८ में मजदूरों को गोलियों से भून डाला था, गिरते हुए तखतताजों को फिर बहाल किया था और तीसरे नैपोलियन की बिरुदावली गाई थी।

हर्ज़न अपने निराशावाद की मंज़िल पार कर मार्क्स के बनाये हुए मजदूरों के क्रातिन्कारी संगठन इंटरनेशल की तरफ बढ़ रहा था। उदारपंथी पूँजीवाद निराशावाद का बखान करके मजदूरों को क्रान्ति की राह से मोड़ने की कोशिश कर रहे थे। इन उदारपंथियों के लिए लेनिन के शब्द क्रोध और घृणा में डूबे हुए हैं। लेनिन ने वह 'सज्जनोचित' शैली न सीखी थी जिससे मजदूर वर्ग को गुमराह करने वालों के साथ वह मेल-मुलाहजे का बर्ताव करते।

इसी तरह तोल्स्तोय पर लिखते हुए लेनिन ने उनके साहित्य की असंगतियों पर प्रकाश डाला और दिखाया कि ये असङ्गगतियाँ सामाजिक विकास की असङ्गगतियों का ही नतीजा हैं। 'रूसी क्रान्ति के दर्पण तोल्स्तोय'—नाम के लेख में लेनिन ने इस बात की एक अनुपम मिसाल दी है कि पिछले ज़माने के साहित्यिकों का मूल्यांकन किस तरह करना चाहिए। तोल्स्तोय को सीधा प्रगतिशील लेखक कह देना काफी नहीं है, क्योंकि हम उन्हें 'देहाती जमींदार के रूप में भी पाते हैं जो ईसामसीह के पीछे पागल बना घूमता है......। उसे खुले आम अपनी छाती पीटते हुए और चिल्लाते हुए देखते हैं कि 'मैं पतित हूँ, मैं नीच हूँ, लेकिन मैं अपना नैतिक धरातल ऊँचा कर रहा हूँ, मैंने गोश्त खाना बिल्कुल छोड़ दिया है और सिर्फ चावल पर ही दिन गुजारता हूँ।'

इसके साथ ही तोलस्तोय को प्रतिक्रियावादी या दकियानूसी लेखक कहकर भी नहीं टाला जा सकता क्योंकि वह एक अद्भुत कलाकार के रूप में हमारे

सामने आते हैं......जिनमें हम सामाजिक झूठ और दगाबाजी के खिलाफ बहुत ही सीधा, ईमानदार और शक्तिशाली विरोध पाते हैं।...तोल्स्तोय ने पूँजीवादी शोषण की खरी आलोचना की है, कचहरियों और सरकारी शासन-तन्त्र के स्वाँग की खिल्ली उड़ाई है और बड़ी गहराई से वह अन्तर्विरोध दिखाया है जो कि बढ़ती हुई गरीबी और अमीरी के बीच पैदा हो गया है।'

इस तरह लेनिन ने बहुत साफ-साफ तोलस्तोय के साहित्य की असङ्गतियों को पेश कर दिया है। लेनिन से पहले किसी ने साहित्य-समालोचना में मार्क्स-वाद के सिद्धान्तों को यों लागू न किया था। सामाजिक विकास की असङ्गतियों के साथ साहित्य का नाता जोड़ कर उसकी भीतरी असङ्गतियों की सही और विस्तृत व्याख्या करते हुए लेनिन ने जो फुटनोट लिखा था, उसकी सबसे अच्छी मिसाल यहाँ उन्होंने खुद ही दी है।

लेनिन ने तोलस्तोय को रूसी क्रान्ति का दर्पण इसलिए कहा था कि उनका साहित्य रूसी क्रान्ति की खूबियों और खामियों का ही दर्पण था। जिन सामाजिक असङ्गतियों को तोलस्तोय का साहित्य प्रतिबिंबित करता था, वे इस प्रकार थीं;

'एक तरफ तो सदियों के सामन्ती अत्याचार और सुधार के बाद वर्षों तक की बढ़ती हुई गरीबी की वजह से किसानों में बेहद गुस्सा और घृणा पैदा हो गई थी और वे कटने-मरने पर तुल गये थे...।

'दूसरी तरफ—अपनी आजादी पाने के लिए किस लड़ाई की जरूरत है, इस लड़ाई में कौन-सा वर्ग उनका नेतृत्व कर सकता है, पूँजीवादी लोगों और पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का रवैया किसान-क्रांति के हितों की तरफ क्या है, जार की सरकार को अपनी ताकत से उलटना जमींदारी प्रभुत्व को खत्म करने के लिए क्यों जरूरी है, इन सब बातों के बारे में उनकी चेतना बहुत धुँधली थी।'

साहित्य और समाज की इन असङ्गतियों को दिखाना क्यों जरूरी था? अगर लेनिन तोल्स्तोय के यथार्थवाद और उनकी खींची हुई तस्वीरों के सौन्दर्य की तारीफ करके खामोश रह जाते तो मार्क्सवादी आलोचना क्यों न पूरी होती?

वह इसलिए पूरी न होती कि मजदूर वर्ग को तोल्स्तोय पंथ से जो सबक

लेना था, उसे वे न ले पाते। लेख के अन्त में लेनिन ने बढ़ते हुए वर्ग-भेद का जिक्र किया है। उन्होंने बताया है कि दल और पार्टियों की रूप-रेखा स्पष्ट हो गई है। जनता के ढुलमुलपन, उसके आलस और उदासीनता को करारी चोट लगी है।

इस तरह दूसरी सफल क्रान्ति की जमीन तैयार हो रही थी। ऐसे वक्त में मार्क्सवादियों का क्या कर्तव्य था? वे अपना कर्तव्य यों निबाह रहे थे:—'क्रांतिकारी सोशल डिमोक्रैट लगातार और डट कर प्रचार कर रहे हैं।'

जाहिर है कि लेनिन की आलोचना इस प्रचार के बाहर न हो सकती थी बल्कि वह दिखलाती थी कि १६०५ की रूसी क्रान्ति से सबक लेकर—साहित्य में तोल्स्तोय की असङ्गतियों को समझ कर—मजदूरवर्ग को सभी तरह का शोषण खत्म करने में कैसे मदद दी जाती है।

लेनिन का विश्वास था कि 'इन बातों का नतीजा यह होगा कि समाजवादी मजदूरों में से ही नहीं, बल्कि लाखों जनवादी किसानों के बीच से भी ऐसे लड़ाकू पैदा होंगे जो इस्पात की तरह मजबूत होंगे और तोल्स्तोय-पंथ के गड्ढे में फिर कभी नहीं गिरेंगे।'

तोलस्तोय की असंगतियों को दिखाना इसलिए ज़रूरी था कि लोग तोलस्तोय पंथ के गड्ढे में न गिरे बल्कि इस्पात की तरह मज़बूत होकर पूँजीवादी शोषण को खत्म कर दें।

तोल्स्तोय पर लेनिन का यह लेख इस बात की मिसाल है कि मजदूर-वर्ग के हितों की कसौटी पर पुराने साहित्य को किस तरह परखना चाहिये।

( २ )

काउंट हेडन पर लिखते हुए लेनिन ने हेडन की शिक्षा और संस्कृति का वर्गरूप ही नहीं प्रकट किया बल्कि उन बुद्धिजीवियों का वर्गरूप भी जाहिर कर दिया जो मानवतावाद के नाम पर हेडन की सराहना करते थे। लेनिन ने बताया कि मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी अपनी बीच की स्थिति को एक सिद्धान्त का रूप दे देते हैं। ऐसे बुद्धिजीवियों को उन्होंने जमींदारों से भी ज्यादा खतरनाक बताया।

जमींदारों के मुँह से मानवतावाद का नाम सुनकर लोग चकमे में न आ सकते थे लेकिन ये बुद्धिजीवी तो कला के नाम पर मानवतावाद की प्रशंसा करते थे। लेनिन ने इनकी कला और साहित्य-रचना को व्यभिचार का नाम दिया। उन्होंने बहुत ही कड़े शब्दों में इन बुद्धिजीवियों की निन्दा की जिससे इस बारे में शक न रह जाय कि वर्गों से परे रहने वाले बुद्धिजीवी दरअसल शासकवर्ग के ही साथ हैं।

लेनिन ने मध्यवर्ती बुद्धिजीवियों के ढुलमुलपन, उनके टुटपुँजियापन, धूर्तता, और क्रान्तिविरोध का बार-बार पर्दाफाश किया था। वे उन बुद्धिजीवियों का महत्व अच्छी तरह समझते थे जो मजदूर वर्ग का साथ देते थे। वे उन बुद्धि-जीवियों से जनता को हमेशा आगाह करते रहते थे जो वर्गों से परे होने का ढोंग रचकर पूँजीवाद की हिमायत करते थे। 'जनता के दोस्त कौन हैं' में उन्होंने बताया था कि पूँजीवादी बुद्धिजीवी अपने वर्ग का हित साधने में लगे हैं और अब उनके वर्गरूप में कोई शक नहीं हो सकता है। (उप० पृ० ८८)

'क्या करें ?' में उन्होंने उन बुद्धिजीवियों को सोशलिस्ट इंटेलीजेंशिया कहा जिन्होंने मार्क्सवादी विचारों का प्रचार किया था। ( उप० पृ० १२६)

अक्तूबर क्रान्ति के बाद बुद्धिजीवियों की भूमिका के बारे में उन्होंने लिखा है—'अगर पूँजीवादी बुद्धिजीवी रूसी और विदेशी पूँजीपतियों को बहाल करने के लिए अपने ज्ञान का इस्तेमाल न करते बल्कि मेहनतकशों की मदद में उसे लगाते तो क्रान्ति की रफ्तार और ज्यादा तेज और शान्तिपूर्ण होती। लेकिन यह तो कल्पनालोक की बात है क्योंकि इस सवाल का फैसला वर्गों के परस्पर संघर्ष से होता है और अधिकांश बुद्धिजीवी पूँजीवादी वर्ग की तरफ खिच जाते हैं।'

(उप० पृ० ४१२)

इस तरह लेनिन ने बुद्धिजीवियों के वर्ग-रूप के बारे में जो बात क्रान्ति से पहले कही थी, वह क्रान्ति के अनुभव से पूरी उतरी।

इससे साबित हुआ कि बुद्धिजीवियों का चिन्तन उनकी विचारधारा, उनकी रचनाएँ वर्गों से परे नहीं होतीं। लेनिन ने बार-बार इस धारणा का खण्डन किया कि वर्ग-भेद वाले समाज में साहित्य, कला, विज्ञान या दर्शन वर्गों से

परे हो सकते हैं।

मार्क्सवाद का सामना होते ही पूँजीवादी विज्ञान क्यों घृणा और क्रोध प्रकट करने लगता है, इसका जिक्र करते हुए लेनिन ने लिखा था कि ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक है क्योंकि 'ऐसे समाज में, जिसका आधार वर्ग-संघर्ष हो, कोई भी 'निष्पक्ष' सामाजिक विज्ञान नहीं हो सकता। किसी न किसी रूप में तमाम सरकारी और उदारपंथी विज्ञान मजदूरी वाली गुलामी का समर्थन करता है जब कि मार्क्सवाद ने उसके खिलाफ जिहाद बोल रखा है।' (पृ० ७०)

मार्क्सवाद मजदूरवर्ग का दर्शन है, इसलिए लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के लिए लिखा है कि वे दर्शन शास्त्र में पार्टीजन थे यानी एक वर्ग विशेष के समर्थक थे। इससे लेनिन का प्रसिद्ध साहित्य सम्बन्धी उसूल यह निकलता है कि साहित्य का पार्टीजन होना चाहिये। 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' नाम के लेख में लेनिन ने माँग की कि मजदूर वर्ग का अपना पार्टीजन साहित्य हो। श्रम और पूँजी की लड़ाई में साहित्य गैर पार्टीजन हो सकता है, इस धारणा का उन्होंने जोरों से विरोध किया।

साहित्य के पार्टीज़न होने का क्या मतलब है ? लेनिन ने बताया कि साहित्य को सर्वहारा उद्देश्य का एक अङ्ग होना चाहिये। पूँजी की गुलामी या मजदूर वर्ग के साथ संघर्ष, विजय और निर्माण,—इनके अलावा साहित्य के लिए तीसरा रास्ता नहीं है। लेनिन ने कहा कि इस पुराने रूसी सिद्धान्त का अन्त कर देना चाहिये कि लेखक लिखता रहता है, पाठक पढ़ता रहता है। इसके बदले—'संगठित समाजवादी मजदूरवर्ग को इन सब कामों की तरफ ध्यान देना चाहिये, उसमें बिना अपवाद के जीवित सर्वहारा-उद्देश्य की भावना फूँक देनी चाहिये।'

इन शब्दों से प्रकट होता है कि लेनिन मजदूरवर्ग के संघर्ष और विजय के लिए साहित्य को कितना महत्वपूर्ण समझते थे। उनकी माँग थी कि रूसी साहित्य जिन सामन्ती बन्धनों से छुटकारा पा चुका है, उनके बाद वह पूँजी के बन्धनों में जकड़ा न रहे। पूँजी की गुलामी करने वाले प्रेस के बदले उन्होंने आज़ाद प्रेस कायम करने की माँग की जो पूँजीवादी अराजकता से [illegible] हो और जिसमें पैसा कमाऊ सिद्धान्तहीन लेखकों के लिए गुञ्जाइश न हो।

पार्टीज़न साहित्य के खिलाफ पूँजीवादी लेखकों की दलीलें लेनिन ने पहले ही पेश कर दीं। वे कहते हैं—'साहित्य-रचना जैसी सूक्ष्म और व्यक्तिगत चीज़ पर तुम सामूहिकता का शासन लाद रहे हो ! तुम चाहते हो कि विज्ञान, दर्शन और सौन्दर्य शास्त्र के सवाल मजदूर वोट दे कर हल करें ! तुम व्यक्ति द्वारा निर्द्वन्द्व साहित्य-सृष्टि का विरोध करते हो !'

लेनिन ने इन बुद्धिजीवियों से कहा कि तुम्हें पूँजीवादी समाज में निर्द्वन्द्व साहित्य-सृष्टि की जो आज़ादी मिली है, उसे हम जानते हैं। अपनी तीखी व्यंग्यपूर्ण शैली में लेनिन ने लिखा : 'श्रीमान् पूँजीवादी बुद्धिजीवियो, हम आपको बता दें कि आपकी निर्द्वन्द्व स्वाधीनता की बातें धूर्तता के अलावा और कुछ नहीं हैं। ऐसे समाज में, जो पैसे के बल पर टिका हो, जहाँ मजदूर गरीब और बदहाल हों, और मुट्ठी भर अमीर कामचोरी में दिन गुजारते हों, कोई वास्तविक और सच्ची 'स्वाधीनता' नहीं हो सकती। श्रीमान् लेखक, क्या आप अपने पूँजीवादी प्रकाशक से आज़ाद हैं ?'

लेनिन ने बताया कि समाज में रह कर कोई भी लेखक समाज से आज़ाद नहीं रह सकता। इसलिए पूँजीवादी लेखक की आज़ादी दरअसल थैलीशाह की गुलामी होती है। इस पूँजीवादी लेखकों की आज़ादी का पर्दाफाश करना हर मार्क्सवादी लेखक का कर्तव्य होता है। लेनिन ने लिखा :

'हम समाजवादी इस पाखंड का भंडाफोड़ करते हैं। हम उनके कुल साइन-बोर्ड उतार कर फेंक देते हैं। हम ऐसा इसलिए नहीं करते कि वर्गहीन साहित्य रचा जाय ( वर्गहीन साहित्य तो सोशलिस्ट समाज में ही सम्भव होगा )। हम ऐसा इसलिए करते हैं कि उनके मुकाबले में एक दरअसल आजाद साहित्य रचा जाय जो पूँजीवाद की चाकरी करने वाले ढोंगी आजाद साहित्य के बदले खुल्लम-खुल्ला मजदूर वर्ग का साथ देने का दम भरता हो। ऐसा साहित्य आज़ाद होगा क्योंकि उसके रचने वाले पैसे के लोभी या ऊँची जगह पाने के उम्मीदवार न होंगे। उसके रचने वालों में दिन पर दिन ऐसे नये लोग आयेंगे जिन्हें समाजवाद और मजदूरवर्ग से हमदर्दी होगी। यह साहित्य आजाद होगा क्योंकि वह जीवन से ऊबी हुई नायिकाओं का मनोरंजन करने के लिए न

होगा, वह उन अमीरों के मनबहलाव की सामग्री न होगा जो अपने मोटापे से परेशान हैं। वह उन लाखों-करोड़ों मजदूरों के लिए रचा जायगा जो देश के सच्चे सपूत हैं, जो उसकी शक्ति हैं, जो उसका भविष्य हैं। वह ऐसा आजाद साहित्य होगा जिसमें मनुष्य जाति के नये से नये क्रान्तिकारी विचार समाजवादी मजदूरवर्ग के सजीव कार्यों और अनुभवों से मिलकर फूलें-फलेंगे। उसके अन्दर पिछले जमाने का अनुभव ( जिस तरह अपने आदिम काल्पनिक रूपों से विकसित होते हुए वैज्ञानिक समाजवाद ने सोशलिज्म का विकास पूरा किया है ) आज के अनुभव ( मजदूर साथियों के मौजूदा संघर्ष ) से बराबर घुलता-मिलता रहेगा।'

पूँजीवादी लेखकों के दलीलों का खंडन करते हुए लेनिन ने यह बात सूर्य की तरह प्रकाशित कर दी कि मजदूरवर्ग का साथ देने वाला, संघर्ष, विजय और निर्माण में उसके साथ बढ़ने वाला, ऊँचे वर्गों के बदले कामकाजी अवाम की सेवा करने वाला साहित्य ही सही अर्थ में आजाद हो सकता है।

लेनिन ने पूँजीवादी साहित्य और संस्कृति का खोखलापन दिखाया और बताया कि साहित्य को नये ढङ्ग से सँवारने का काम, उसे सजीव ढंग से विकसित करने, विषयवस्तु और रूपों में उसे समृद्ध करने का काम मजदूरवर्ग के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए लेखक ही कर सकते हैं।

लेनिन ने साहित्य में नये प्रयोग, नयी प्रेरणाओं या नयी कल्पनाओं का विरोध नहीं किया। उन्होंने कहा कि—'इस क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रेरणा, व्यक्तिगत रुचि, विचार और कल्पना की उड़ान, विषयवस्तु और रूपों में ज्यादा से ज्यादा स्वाधीनता मिलनी चाहिये।'

लेकिन यह सब एक व्यापक सर्वहारा उद्देश्य के अन्तर्गत ही हो सकता था। सर्वहारा उद्देश्य का साथ छोड़ने पर कल्पना की उड़ान पूँजीपतियों के खरीदे हुए साहित्य में ही दम लेती है।

पार्टी संगठन और पार्टी-साहित्य पर लेनिन का लेख तमाम मार्क्स[illegible] लेखकों के लिए एक घोषणापत्र के समान है जो उन्हें पूँजीवादी साहि[illegible] असलियत से परिचित कराता है और उन्हें समाजवादी साहित्य रचने का [illegible]

दिखाता है।

ऊपर लेनिन ने वर्ग और साहित्य के सम्बन्ध पर जो कुछ कहा है, उससे यह नतीजा साफ निकलता है कि साहित्य गैर-राजनीतिक और सिद्धान्तहीन नहीं हो सकता। मार्क्सवाद में शुद्ध साहित्य, शुद्ध कला या शुद्ध रस की गुञ्जाइश नहीं हो सकती। सोवियत लेखक जौश्चेंको और आख्मातोवा की रचनाओं का खंडन करते हुए ज्दानोव ने लेनिन की इस धारणा पर खास जोर दिया था कि साहित्य गैर राजनीतिक और सिद्धांतहीन नहीं हो सकता।

सर्वहारा उद्देश्य के अन्तर्गत जो साहित्य रचा जायगा उसका साहित्य और संस्कृति से क्या सम्बन्ध होगा, इस सवाल का जवाब ऊपर दिये हुए लेनिन के वाक्यों में मौजूद है। पुराने और नये अनुभवों के लगातार मिलने से ही नया साहित्य फूल-फल सकता है। इस बात को 'नौजवान सभाओं के कर्त्तव्य' नाम के लेख में उन्होंने और साफ कर दिया था। उन्होंने लिखा था—मनुष्य जाति ने जो ज्ञान-राशि एकत्र की है, उससे समृद्ध होकर ही तुम कम्युनिस्ट बन सकते हो।' (उप० पृ० ४५७)

लेनिन ने मार्क्स की मिसाल दी थी कि पुरानी संस्कृति का मूल्यांकन किस तरह किया जाता है। मार्क्स के सिद्धान्त करोड़ों जनता के सिद्धान्त इसीलिए बन सके कि मार्क्स ने पहले के अर्जित ज्ञान पर अपने पाँव रोपे थे। इसलिए सर्वहारा संस्कृति अधर में नहीं फल-फूल सकती। सर्वहारा संस्कृति मनुष्य के पूर्वसंचित ज्ञान को आगे बढ़ाकर ही फल-फूल सकती है।

यहाँ पर यह सवाल हो सकता है कि जब साहित्य और संस्कृति वर्गहितों से जुड़े हुए हैं, तब पुरानी ज्ञान-राशि से कुछ सीखने का सवाल कैसे उठ सकता है? इसके अलावा बहुत से पुराने लेखक उच्चवर्गों के या गैर मजदूर [illegible]र्गों के थे, उनके साहित्य से कुछ सीखने का सवाल कैसे उठ सकता है?

[illegible] लेनिन ने इस बात को बराबर स्पष्ट कर दिया था कि साहित्यकार और [illegible]र्ग का सम्बन्ध, जिसमें वह पैदा हुआ है, यांत्रिक नहीं होता। मिसाल के [illegible] हर्ज़ेन पर लिखते हुए उन्होंने १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जमींदार वर्ग का [illegible] किया था। हर्ज़ेन का जन्म इसी वर्ग में हुआ था। इस वर्ग में एक तरफ

शराबी, जुआरी और शोहदे पैदा हुए थे, दूसरी तरफ उसमें कुछ क्रान्तिकारियों [illegible] जन्म लिया था जिन्होंने जारशाही खत्म करने में जान की बाजी लगायी थी।

स्वयं मार्क्स और लेनिन का जन्म मजदूर वर्ग में न हुआ था। इससे जाहिर है कि गैर मजदूर वर्ग के संस्कार कोई ऐसी चीज नहीं है जिन्हें इन्सान मिटा न सके। लेकिन वह उन्हें मिटा तभी सकता है जब वह बात को माने कि उसमें गैर मजदूर वर्ग के संस्कार—यानी सामंती, पूँजीवादी या मध्यवर्गी संस्कार—मौजूद हैं और इन संस्कारों का कोई भी सम्बन्ध शुद्ध मानवतावाद से नहीं है।

लेनिन ने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया था कि सामन्ती और पूँजीवादी समाज की सीमाओं के बावजूद लेखक, वैज्ञानिक और साहित्यकार ऐसी संस्कृति का निर्माण करते रहे हैं जो सर्वहारा वर्ग के लिए महत्त्वपूर्ण है। ऐसे लेखकों और साहित्यकारों की रचनाएँ उनके जमाने की समाज-व्यवस्था की कड़ी नुक्ता-चीनी करती हैं। सामन्ती और पूँजीवादी बन्धनों की आलोचना, उनसे आजाद होने की तीव्र भावना उनके साहित्य में वे तत्व पैदा करती है जो नयी संस्कृति के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। रूसी लेखकों और साहित्य पर लेनिन ने जो कुछ लिखा है, वह इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर लिखा है।

अपनी पुस्तक 'क्या करें' में लेनिन ने इस बात पर जोर देते हुए कि मजदूर वर्ग को सबसे आगे बढ़े हुए सिद्धान्तों के प्रकाश में आगे बढ़ना चाहिए, रूसी मार्क्सवादियों के पहले के साहित्यकारों के बारे में यह लिखा है:—

'पाठक को हर्ज़न, बेलिन्स्की, चर्निशेव्स्की और १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध के गौरवशाली क्रान्तिकारी नक्षत्रों की पाँति का स्मरण करना चाहिये, रूसी साहित्य जो विश्व-महत्व प्राप्त कर रही है, उसकी तरफ उसे ध्यान देना चाहिये।

(उप० पृ० १[illegible]

इन शब्दों से जाहिर है कि लेनिन जारशाही रूस के जनवादी और [illegible] कारी लेखकों को कितना ऊँचा स्थान देते थे। वह इन रूसी लेखकों की [illegible] बराबर पढ़ा करते थे और अपने लेखों, भाषणों आदि में उनसे मिस[illegible] करते थे। अपनी पुस्तक 'मैटीरियलिज्म ऐंड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' में उन्होंने

चर्निशेवस्की की तुलना मार्क्स और एंगेल्स से की है। उसे उन्होंने 'महान् रूसी हेगल्वादी और भौतिकवादी' 'महान् रूसी लेखक' आदि कहा है।

('मैटीरियलिज्म ऐंड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' अँग्रेजी संस्करण। (पृ० ३७४)।

अन्त में लेनिन ने लिखा है—'लेकिन चर्निशेवस्की मार्क्स और एंगेल्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की सतह तक नहीं उठ पाये थे। रूसी जीवन के पिछड़ेपन की वजह से वह ऐसा नहीं कर पाये। (उप० पृ० ३७४)

इन शब्दों से पता चलता है कि लेनिन किसी लेखक की रचनाओं का मूल्यांकन किस ऐतिहासिक ढङ्ग से करते थे। जिन लोगों ने साहित्य और दर्शन में जनवादी और क्रान्तिकारी परम्परा की नींव डाली थी, उसका वे कितना सम्मान करते थे।

चर्निशेवस्की पर लेनिन के वाक्य इस बात की मिसाल है कि मार्क्सवादी लेखक साहित्य की जनवादी परम्परा का किस तरह मूल्यांकन और किस तरह उससे नये साहित्य का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

( ४ )

साहित्य-रचना जब सर्वहारा-उद्देश्य के अन्तर्गत होगी, तब इस बात पर ध्यान देना और भी जरूरी होगा कि विषय-वस्तु और रूप (कण्टेण्ट एण्ड फार्म) दोनों ही की दृष्टि से वह ऐसा साहित्य हो कि जनता उसे समझ सके और वह जनता को पूँजीवाद को खत्म करने और समाजवाद का निर्माण करने में सहायता दे सके। कुछ लोग समझते हैं कि मार्क्सवाद सिखाता है कि हम साहित्य में चाहे जैसी विषयवस्तु दें, चाहे जैसे उसका रूप सँवार दें, (या उसे कुरूप कर दें), इससे उसके असर में कोई बट्टा नहीं लगता। इस तरह की बातें रूपवादी (फार्मलिस्ट) ही सोच सकते हैं जो साहित्य को जनता से एक अलग [illegible]ज समझते हैं, जो यह मानते हैं कि रूपों में उन्हें मनमानी तब्दीलियाँ करने [illegible]धिकार है और कला का सम्बन्ध आदि से अन्त तक कलाकार से है न [illegible]ता से भी। लेनिन ने साहित्य के रूप का मसला उसी कसौटी पर हल [illegible]था जिस कसौटी पर वे और तमाम मसले हल किया करते थे—यानी सर्वहारा-सङ्घर्ष और समाजवादी निर्माण की कसौटी पर।

१९१८ में सोवियत अखबारों को आगाह करते हुए उन्होंने लिखा था—
'...नीतिक आतिशबाजी कम होनी चाहिए। बौद्धिक तर्कजाल कम होना ...ए। जिन्दगी के और नजदीक आओ। इस पर ज्यादा ध्यान दो कि किसान और मजदूर अवाम अपने रोजमर्रा के काम में, हकीकत में, कौन-सी चीज गढ़ रहे हैं। इस बात को परखने की तरफ और ज्यादा ध्यान दो कि जो नयी चीज गढ़ी गई है, वह कम्युनिस्ट है।'

लेनिन साहित्य के रूप की तरफ ध्यान ही न देते थे बल्कि उसे सँवारने का एक ही रास्ता सुझाते थे—यानी अवाम की जिन्दगी के और नजदीक आओ। अगर लेखों में हलकापन है, उनमें राजनीतिक आतिशबाजी है, बौद्धिक तर्कजाल है, तो ये खामियाँ समाजवादी निर्माण में लगी हुई जनता के और जनदीक आने से ही दूर हो सकती हैं।

एक दूसरे लेख में भी उन्होंने सोवियत पत्रों के शब्द-जाल रचने की आलोचना की थी। यहाँ भी इस मसले को उन्होंने शुद्ध शैली की समस्या की तरह नहीं देखा बल्कि उसकी राजनीतिक बुनियाद की तरफ इशारा करते हुए उसे पूँजीवादी बुद्धिजीवियों का शब्द-जाल कहा है। उन्होंने सोवियत प्रेस से माँग की कि वह पूँजीवादी अतीत के इन जीर्ण अवशेषों के खिलाफ संघर्ष करके उन्हें खत्म कर दें। (मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सिज्म, पृ० ४१६)

मार्क्स-एंगेल्स के पत्र-व्यवहार पर लिखते हुए लेनिन ने एंगेल्स की चुभती हुई व्यंग्यपूर्ण शैली का जिक्र किया था (उप पृ० ६६)। लेनिन स्वयं व्यंग्यपूर्ण शैली के अद्वितीय लेखक थे। 'सर्वहारा क्रान्ति और गद्दार काटस्की' नाम की पुस्तक उनकी इस शैली की बड़ी अच्छी मिसाल है। एक-आध बार अस्वस्थ रहने के कारण जब उन्होंने बोल कर लिखाया तो उन्हें उससे सन्तोष न हुआ। उन्होंने उस पाण्डुलिपि को फाड़ कर फिर उसे स्वयं लिखा।

शैली की स्पष्टता, शब्दों का सधा हुआ प्रयोग, हास्य-विनोद औ... के छींटे, क्रोध और आवेश से जलते हुए वाक्य, कहावतें, मुहावरे, पुर... की रचनाओं से उद्धरण—लेनिन की शैली एक अध्ययन की वस्तु है ज... है कि इस महान् क्रान्तिकारी विचारक ने भाषा और शब्दों पर, अ...

के माध्यम पर, साहित्य के रूप पर, किस तरह अधिकार पा लिया था। लेनिन की रचनाएँ एक प्रभावशाली शैली के गुणों से भरी-पूरी इसलिए हैं कि वे [illegible] जनता के संघर्ष और समाजवादी निर्माण के लिए लिखी गई थीं। वे संघ[illegible] तटस्थ रहने वाले किसी कलाकार का कमाल नहीं थीं।

लेनिन के जीवन की एक घटना इस विषय पर काफी प्रकाश डालती है। जिन दिनों देशी-विदेशी दुश्मनों के खिलाफ गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था, उन्हीं दिनों लेनिन ने रूसी लेखकों का आह्वान किया कि रूसी भाषा को बिगाड़ने वालों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दो।

( सोवियत पत्रिका 'नोवी मीर' के जून १९४७ के अङ्क में उद्धृत )।

जहाँ भाषा, शब्दों के प्रयोग, शैली और साहित्य के रूपों की तरफ लेनिन की ऐसी सतर्कता थी, वहाँ दूसरी तरफ साहित्य की विषयवस्तु में वह किसी की [illegible]ी गुमराही को माफ करने वाले नहीं थे। लेनिन ने सोवियत साहित्य के आरंभ के दिनों में ही दिखाया था कि गैर-मार्क्सवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ कैसे सङ्घर्ष करना चाहिये।

रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन ने गोर्की को लिखा था कि 'तुमने अपने को ढुलमुलयकीन सम्पादकों की पंक्ति में बिठा लिया है। इस जगह से नये जीवन, नये निर्माण को देखना नामुमकिन है। इस जगह बैठे रहने से तमाम शक्ति बीमार बुद्धिजीवियों के रोने-कराहने में खर्च हो जाती है......। तुमने अपने को ऐसी जगह बिठा रखा है जहाँ से किसानों और मजदूरों, यानी रूसी आबादी के ९० फी सदी हिस्से की जिन्दगी में जो कुछ नया है, उसे देख सकना नामुमकिन है। जिस शहर से मजदूरवर्ग के सपूत मोर्चे पर और देहात चले गये हैं, उसमें तुम्हें मजबूरन पहले की राजधानी के जीवन के रहे-सहे हिस्से देखने को मिलते हैं।'

साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध पर लेनिन ने इसी पत्र में गोर्की को [illegible]ज[illegible]ा : 'कलाकार के रूप में तुम वहाँ [ यानी पेत्रोग्राद में ] रहते हुए वह [illegible] देख सकते जो नया है और फौज, गाँव और कलकारखानों में हो रहा है [illegible]वार [illegible] उस काम से किनाराकशी कर ली है जो कलाकार को सन्तुष्ट कर स[illegible] पेत्रोग्राद में रहते हुए जरूरी है कि राजनीति में काम किया जाय

ले... ...म तो कलाकार हो !

...मारा देश सारी दुनिया के पूँजीवादियों के खिलाफ सङ्घर्ष की सरगर्मी से ... रहा है। पूँजीवादी अपना पतन होने से किटकिटा कर बदला लेने की ...शिश कर रहे हैं। हकीकत यह है। प्रथम सोवियत प्रजातन्त्र पर चारों तरफ से प्रहार हो रहे हैं—सचाई यह है। यहाँ पर सक्रिय राजनीतिक जीवन बिताना जरूरी है और अगर कोई राजनीति में हिस्सा न ले तो वह क्या देखेगा, क्या रचेगा……?

'मैं अपनी बात तुम पर लादना नहीं चाहता लेकिन यह कहे बिना नहीं रह सकता कि तुम्हें अपनी जगह अपना वातावरण, अपना काम बदल देना चाहिये वर्ना हो सकता है कि तुम जिन्दगी से ही आजिज आ जाओ।' (उप०)

इस तरह लेनिन ने दिखाया कि अवाम की जिन्दगी के नजदीक रह कर, उसके साथ घुल मिल कर, उसके साथ आगे बढ़ कर ही कोई लेखक अपने साहित्य को सबल और पुष्ट बना सकता है। रोमांटिक अकेलापन, ऊब, उदासी और निराशा, कला और कलाकार दोनों के लिए घातक हैं।

सोवियत सङ्घ में लेखकों और कलाकारों का एक सङ्गठन था जिसे प्रोलेत कुल्त (Prolet Cult) कहते थे।

इस सङ्गठन में निम्न पूँजीवादी विचारधारा के लेखक—फ्यूचरिस्ट और डिकेडेंट तक—घुसे हुए थे और बहुत जगह उन्होंने उसका नेतृत्व अपने हाथ में ले रखा था। साहित्य की स्वाधीनता के नाम पर इसमें मार्क्सवाद-विरोधी विचारधारा का प्रचार किया जाता था। नयी संस्कृति के नाम पर अनेक लेखक बेसिर-पैर की चीज़ें लिखने लगे थे जिनका रूप भोंडा होता था और विषय-वस्तु प्रतिक्रियावादी होती थी। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इनकी हानिकर प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रस्ताव पास किया। उस प्रस्ता... के साथ केन्द्रीय कमेटी ने प्रोलेत-कुल्त सङ्गठनों के नाम एक पत्र भेजा... केन्द्रीय कमेटी का कहना था :

'फ्यूचरिस्ट, डिकेडेंट, मार्क्सवाद-विरोधी धाराओं के समर्थक, औ... में साधारण पूँजीवादी मतों और विचारों के खुले असफल हिमायती...

घुस आये हैं और वे प्रोलेतकुल्त पर छाये हुए हैं। ऐसी 'सर्वहारा-संस्कृ[illegible] पूँजीवादी दर्शन मार्क्सवाद के रूप में मजदूरों के सामने पेश हुआ है औ[illegible] उस[illegible] के क्षेत्र में फ्यूचरिज्म के भोंड़े, विकृत और हास्यास्पद रूप मजदूरों पर [illegible] गये हैं। ( उप०

लेनिन के नेतृत्व में केन्द्रीय कमेटी ने इन गैर मार्क्सवादी प्रवृत्तियों के मूल स्रोत पर प्रकाश डालते हुए लिखा था : '१६०५ की क्रान्ति के विफल होने पर और बाद को १६०७—१२ में जो मार्क्सवाद-विरोधी विचार खूब फूले-फले थे और 'सोशल डिमौक्रैट' कहलाने वाले बुद्धिजीवियों पर छा गये थे, प्रतिक्रिया के दिनों में, आदर्शवादी दर्शन की विभिन्न धाराओं में और देवोपासना में जैसे कुछ लोग मगन रहने लगे थे—वही सब मत और विचार अपना भेष बदल कर आज के मार्क्सवाद-विरोधी बुद्धिजीवियों द्वारा प्रोलेत [illegible]ल्त पर थोपे जा रहे हैं।'

केन्द्रीय कमेटी ने यह बात साफ कर दी थी कि वह सर्वहारा बुद्धि-जीवियों के विकास पर किसी तरह की रोक न लगती थी बल्कि उनके विकास के लिए हर तरह की सहूलियतें देना चाहती थी। 'केन्द्रीय कमेटी इस बात का मूल्य समझती है और उसका आदर करती है कि आगे बढ़े हुए मजदूर व्यक्तित्व आदि के और भरे-पूरे विकास के प्रश्न सामने रखते हैं। पार्टी इस बात को बहुत महत्व देती है। यह काम पूरी तरह मजदूर-बुद्धिजीवियों के हाथ में रहे, इसके लिए मजदूर-राज्य की तरफ से उन्हें हर तरह की सुविधाएँ मिलेंगी।'

( उप० )

इस तरह लेनिन ने साहित्य में मार्क्सवाद-विरोधी प्रवृत्तियों के खिलाफ निर्ममता से युद्ध करना सिखाया। उसी परंपरा पर चलते हुए ज्दानोव ने [illegible]चेंको और आख्मातोवा की रचनाओं के मार्क्सवाद-विरोधी तत्वों की कड़ी [illegible]चना की थी।

[illegible]हित्य का रूप फ्यूचरिस्टों की तरह विकृत न किया जाय बल्कि लोकप्रिय [illegible]जाय, साहित्य की विषय-वस्तु दिमागी और हवाई न हो बल्कि आम [illegible]जिन्दगी से ली जाय—यही लेनिन की सीख थी।

...ीवादी समाज में मजदूरों को वर्ग-चेतन बनाना, पूँजीवादी समाज की ...तियों को पेश करना, पूँजीवादी शोषण को खत्म करने की उत्कण्ठा पैदा ...।—यही साहित्यकार का कर्तव्य होना चाहिये। अपनी पुस्तक 'क्या करें?' ... लेनिन ने लिखा था: 'जो लोग यह जानना चाहते हैं कि जनता के सभी वर्गों और स्तरों में सोशल डिमोक्रैटों को कैसा राजनीतिक प्रचार करना चाहिये, उनसे हम कहेंगे कि प्रचार का मुख्य रूप (लेकिन एकमात्र रूप नहीं) राजनीतिक तौर से पर्दाफाश करना होना चाहिये।......पर्दाफाश करने वाले साहित्य के लिए आदर्श पाठक मजदूर हैं जिन्हें व्यापक और सजीव राजनीतिक ज्ञान की सबसे ज्यादा जरूरत है, जो इस ज्ञान को सक्रिय संघर्ष का रूप देने की सबसे ज्यादा क्षमता रखते हैं, भले ही उस संघर्ष से सोलह आना फल न मिले।'

इस तरह पूँजीवादी परिस्थितियों में पूँजीवादी वर्ग की वर्ग नीति का पर्दाफाश करना साहित्य का एक प्रमुख कर्तव्य हो जाता है।

समाजवादी निर्माण की परिस्थितियों में लेखक का कर्तव्य होता है कि देखे कि जनता किन नयी चीजों का निर्माण कर रही है और उनका चि... करे। यह बात गोर्की को लिखे हुए पत्र से—जिसका हवाला ऊपर दिया गया है—साफ हो जाती है।

मुख्य बात यह है कि लेखक जब मजदूरों और किसानों को अपना पाठक समझ कर लिखेंगे तभी वे उन दोषों से बच सकेंगे जो पूँजीवादी लेखकों की रचनाओं में पाये जाते हैं।

बिजली के काम पर स्कोत्सोव-स्तेपानोव की किताब की भूमिका में ले... ने लिखा: 'इस लेखक ने जो कुछ कहना चाहा है, उसे बहुत ही साफ कह दिया है—बुद्धिजीवियों के लिए नहीं (जैसा कि हमारी पुस्तकें ... जाती हैं जो पूँजीवादी लेखकों के सबसे खराब ढङ्ग की नकल करती ... मजदूरों के लिए, वास्तविक जनता के लिए, साधारण मजदूरों और कि... लिए।' ('नोवीमीर' पत्रिका में उद्धृत)

लेनिन ने यहाँ पर और दूसरी जगह सोवियत अखबारों पर ... इस बात से बार-बार आगाह किया था कि मार्क्सवादी लेखक...

बचें जो थोड़े से लोगों को ध्यान में रखकर लिखने में पूँजीवादी लेखक ... में
जाते हैं। उस...

इस तरह लेनिन ने जन-साहित्य के निर्माण का रास्ता दिखाया था।)।

( ५ )

मार्क्स ने एक जगह लिखा है कि कम्युनिज्म ऐसा मानववाद है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति को खत्म कर दिया गया हो। यूरोप में पूँजीवाद के उत्थान-काल में—रिनैसेन्स के युग में—सेक्सपीयर जैसे महान् लेखकों ने जिस मानव वाद—ह्यूमेनिज्म—की सृष्टि की थी, उसका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव नहीं बल्कि उसकी प्रतिष्ठा थी। रिनैसेन्स के मानववादी लेखक पूँजीवादी अभ्युदय काल की उपज थे। उनका मानववाद उन क्रान्तिकारी धारणाओं की बुनियाद पर कायम हुआ था जिन्हें पूँजीवाद ने सामन्तशाही के ढाँचे की जगह प्रतिष्ठित किया था। उनके मानववाद का भी वर्ग आधार था। यह वर्ग पूँजीवादी वर्ग था जो सामन्तशाही से लड़ते हुए उस समय एक क्रान्तिकारी भूमिका पूरी कर रहा था। एंगेल्स ने 'एंटी ड्यूरिंग' में दिखाया है, किस तरह न्याय, समानता और विवेक (Reason) के उपासक—रूसो आदि—पूँजीवादी प्रजातन्त्र की धारणा से आगे नहीं बढ़ पाये।

मार्क्स ने कम्युनिज्म को—एक नये मानववाद को—दूसरे वर्ग का आधार दिया। यह वर्ग मजदूर वर्ग था। पूँजीवादी वर्ग ने जिस व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुनियाद पर न्याय-विवेक और समानता का सांस्कृतिक महल बनाया था, मजदूर उस व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुनियाद को खत्म करता है। सामाजिक उपयोग ...त्ति पर व्यक्तिगत अधिकार के बदले मार्क्स ने सामाजिक अधिकार के ... का प्रचार किया। लेनिन ने दिखाया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार ... ने जनता का भयानक शोषण किया है, उसने समाज के आर्थिक, ... और सांस्कृतिक-विकास के सभी रास्ते बन्द कर दिये। इसलिए ... व्यवस्था को खत्म करके ही समाज के चौमुखी विकास का रास्ता खुल ...

... सांस्कृतिक क्षेत्र में लेनिन ने एक नये मानववाद की प्रतिष्ठा

...ह मानववाद रिनैसेन्सकाल के मानववाद का आधार पूँजीवादी वर्ग था। ... न्याय, विवेक और समानता का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। इस ...नववाद का आधार मजदूर वर्ग था, इसके न्याय, विवेक और समानता का आधार सम्पत्ति पर समाज का अधिकार था।

आम जनता को बरगलाने के लिए पूँजीवादी लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि पुराने मानववाद का कोई वर्ग आधार नहीं था। इससे वे यह नतीजा निकालते हैं कि साहित्य में मजदूर और पूँजीवादी वर्गों के भेद का, उन... संघर्ष का, जिक्र न होना चाहिये क्योंकि आखिर मजदूर और पूँजीपति, ... दोनों मानव ही।

पहले महायुद्ध में पूँजीवादी मुनाफ़ाखोरी के हित में देशभक्ति के ... लाखों साधारण जनों को युद्धभूमि में भून डाला गया। इस हत्या और... का सबसे पहले भंडा-फोड़ किसने किया? सिर्फ लेनिन और उनकी बो... पार्टी ने मार्क्सवादी उसूलों के आधार पर दिखाया कि यह साम्राज्यवा... जनहत्या का पूँजीवादी षड्यंत्र है। यही नहीं, उन्होंने उस षड्यंत्र ... करने का रास्ता भी दिखाया। यह रास्ता सर्वहारा क्रान्ति और मजदूर ... यकत्व का रास्ता था। वही 'मानववादी' लेखक जो साम्राज्यवादी युद्ध... हत्या का समर्थन कर रहे थे, रूसी क्रान्ति शुरू होते ही लेनिन और बोल्शे... पार्टी पर मनों कीचड़ उछालने से नहीं चूके क्योंकि दुनिया के एक-छठे हि... पूँजीवादी शोषण का खत्म होना उन्हें जरा भी अच्छा नहीं लगा।

लेनिन ने वर्ग-भेद को छिपाया नहीं बल्कि शुरू से ही अपनी र... वे उसे साफ़-साफ दिखाते रहे। १८९५-९६ में सोशल डिमोक्रैटि... कार्यक्रम पर लिखते हुए उन्होंने पूँजीपतियों के लिए लिखा—'अ... खर्ची और ऐयाशी की कोई सीमा नहीं रही। बड़े-बड़े शहरों ... उनकी आलीशान कोठियाँ और महल खड़े हुए हैं।' लेकिन ... दूरों को गन्दी कोठरियों में रहना पड़ता है; ठंडे, सीलनभरे घ... उन्हें रक्खा गया है। अक्सर जहाँ नये कारखाने बनते हैं, वह... कर खुले में ही रहने पर मजबूर होते हैं।'

लेनिन के इन शब्दों से पता चलता है कि एक सच्चे मानववादी का
पूँजीवादी शोषण के प्रति कैसे क्रोध और घृणा से भर जाता है।

जारशाही रूस में पचीसों जातियों को गुलाम बना कर रखा गया था।
और गैर रूसी ( अंग्रेज और फ्रांसीसी ) पूँजीपति इन जातियों का भयान
शोषण करते थे। जारशाही ने इन जातियों के राजनीतिक और आर्थिक अधि-
कार छीन लिये थे। इसके खिलाफ यूरोप के 'मानववादी' लेखकों के मुँह से
क शब्द न निकलता था। लेनिन और स्तालिन ने ही सबसे पहले घोर पूँजी-
विरोध का सामना करके इनकी स्वाधीनता का समर्थन किया था। लेनिन
तालिन की बोल्शेविक पार्टी ने ही आगे बढ़ी हुई, पिछड़ी हुई, मिटती
तियों को जार, पूँजीवाद और सामन्तशाही से सही माने में आजाद किया।
१५ में 'आत्मनिर्णय और सर्वहारा वर्ग' पर लिखते हुए लेनिन ने
रूस के लिए कहा था 'रूस तमाम जातियों का कठघरा है।' लेनिन
लिन को छोड़ कर किस मानववादी में यह हिम्मत थी कि वह गैर-रूसी
के लिए न्याय की यह माँग करता ?

निन ने जारशाही के अन्याय और अत्याचार को ही नहीं ललकारा था,
एशिया के देशों में साम्राज्यवादी अत्याचार को भी चुनौती दी थी।
वीं सदी के आरम्भ में, जब सन् २० के असहयोग आन्दोलन में अभी देर
जब यूरोप और इंगलैंड के 'मानववादी' ब्रिटिश-राज्य की सभ्यता और
जनवादी होने का गुणगान कर रहे थे, उस समय लेनिन ने—१९०८ के
सिद्ध लेख विश्वराजनीति में आग का सामान ('Inflammable Mate-
orld-politics') में—अंग्रेजी राज्य के बारे में लिखा था : 'उस
ट की कोई हद नहीं है जिसे भारत में अंग्रेजी राज कहा जाता है।
भी हिस्से में जनता इतनी गरीब, बदहाल और भुखमरी से
नी हिन्दुस्तान में।

जिन राजनीतिज्ञों को उग्रपंथी और उदार कहा जाता था, जो
ार' (Reforms) देने की बात कहते थे, उनकी कलई खोलते
ें 'वास्तविक चंगेज खाँ' कहा था जो 'अपनी हुकूमत के

वाली जनता को हर तरह से 'शान्त' रखने की कोशिश करते हैं
नीतिक विरोधियों को बेंतों से पीटने से भी बाज नहीं आते।
कमान्य तिलक की गिरफ्तारी पर बम्बई की जनता ने जो प्रदर्शन किये
स पर उत्साह प्रकट करते हुए लेनिन ने लिखा था : 'लेकिन अपने लेखकों
और राजनीतिक नेताओं के समर्थन में अब हिन्दुस्तान की जनता निकल कर
सड़कों पर आने लगी है। अंग्रेज गीदड़ों ने हिन्दुस्तान के जनवादी नेता तिलक
को घृणित सजा सुनाई है······थैलीशाहों के चाकरों ने एक जनवादी नेता की
तरफ जो प्रतिहिंसा दिखाई है, उससे बम्बई की सड़कों पर जनता ने प्रदर्शन किये
हैं और वहाँ हड़ताल हुई है। और हिन्दुस्तान का सर्वहारा वर्ग अब इतना प
पक्क हो गया है कि वर्गचेतन ढङ्ग से राजनीतिक जनसंघर्ष शुरू कर दे।
हालत में अब हिन्दुस्तान में ऐंग्लो-रूसी तरीके कारगर नहीं हो सकते।'

पूँजीवादी देशों के 'मानववादी' लेखकों ने उपनिवेशों में अंग्रेजों के
और दमन का विरोध नहीं किया। इस मसले पर उनका मानववाद सो
सिर्फ लेनिन ने, १६०८ में ही, गोरे-साम्राज्यवाद का पर्दाफाश करके हिन्
के जन-आन्दोलन का स्वागत किया था। मजदूर वर्ग की सच्ची अन्तर्राष्ट्री
उसका क्रान्तिकारी मानववाद इस तरह का होता है।

लेनिन ने मजदूर वर्ग में नयी जागरूकता पैदा की। उसके मार्क्सवा
सिद्धान्तों को उन्होंने और पैना किया। इन सिद्धान्तों के बल पर उन्होंने न
समाज के नये सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण किया। उन्होंने मजदूर वर्ग
शोषित जनता को सिखाया कि वह पूँजीवादी धोखे-बाजी और कपटनी
घृणा करे। रूस की पूँजीवादी सरकार ने गुप्तसंधियाँ की थीं, लेनिन
शुरू होते ही उनको प्रकाशित कर दिया। पूँजीवादी कूटनीति के
मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति को आगे रखा। उन्होंने जनत
साहस, भाईचारा, वीरता के गुण सिखाये जो क्रान्तिकारी संघर्ष
पककर मजबूत हुए और चमक उठे।

क्रान्तिकारी पार्टी में अनुशासन कैसे कायम किया जाता है,
लेनिन ने पहली शर्त यह रक्खी थी कि सर्वहारा वर्ग के अग्रदल

होनी चाहिये, क्रान्ति के लिए लगन होनी चाहिये, धीरज, बलिदान और [illegible] की भावना होनी चाहिए। ( मार्क्स-एंगेल्स मार्क्सज्म, [illegible]

लेनिन ने ये नैतिक गुण बोल्शेविक पार्टी को सिखाये जिससे वह [illegible] की पहली समाजवादी क्रान्ति करने में सफल हुई। आज तमाम सोवियत [illegible] लेनिन को अपना आदर्श मानकर उस स्तर पर अपनी नैतिकता का विकास कर रही है जो पूँजीवाद समाज में सम्भव ही नहीं है।

सोवियत साहित्य इस नयी नैतिकता, इस नयी मानवता, इस नयी संस्कृति [illegible] दर्पण है। लेनिन के बताये हुए मार्ग पर चल कर सोवियत साहित्य उन [illegible]कृतिक मूल्यों को विकसित कर रहा है जिनका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं [illegible]लिक सामाजिक अधिकार है।

[illegible] पूँजीवादी देशों में क्रान्तिकारी और प्रगतिशील साहित्य का जहाँ दमन [illegible] जाता है, सम्प्रदाय, जाति और वर्ण के भेद-भाव उकसाये जाते हैं, प्राचीनता-[illegible] और धार्मिक अंधविश्वासों में जनता को भटकाया जाता है, युद्ध और हिंसा [illegible]ाग में जनता को झोंक देने के लिए साहित्य से प्रचार कराया जाता है, [illegible] सोवियत-समाजवादी देश में मानववादी साहित्य फलता-फूलता है, वह [illegible]ने साहित्य के उन नैतिक मूल्यों की रक्षा करता है जिन्हें पूँजीवादी शासक [illegible] नष्ट करता है, वह पूँजीवाद को खत्म करके नये सुखी समाज के निर्माण [illegible] तस्वीर देता है जिससे दुनिया भर के शोषित वर्ग अपने भाग्य का निर्माण [illegible]

[illegible]निन के बताये हुए मार्ग पर चल कर ही आज सोवियत साहित्य संसार [illegible]ील और जनवादी साहित्य का सिरमौर बना है। इसलिए साहित्य [illegible]ट पर लेनिन के विचारों से परिचित होना हर देश के लेखकों के [illegible]। हिन्दुस्तान जैसे देश के लिए यह और भी जरूरी है जिसने [illegible]रीबी में सबसे ज्यादा दिन बिताये हैं। लेनिन के विचार इस [illegible]रीबी को दूर करके नयी संस्कृति, नये साहित्य और नये समाज [illegible] का रास्ता दिखाते हैं।